बहुजन हिताय

अरुंधती रॉय

बहुजन हिताय

बहुजन हिताय

अरुंधती रॉय

अनुवाद

प्रियदर्शन

मूल अंग्रेजी में यह पुस्तक इंडिया बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, बंबई, द्वारा 'द ग्रेटर कॉमन गुड' शीर्षक से प्रकाशित की गई।

इस पुस्तक की समूची रॉयल्टी नर्मदा बचाओ आंदोलन को जाएगी

मूल्य : रु. 50.00

© अरुंधती रॉय
The author hereby asserts her moral rights to be identified as the author of the book.

पहला संस्करण : 1999

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज
नई दिल्ली-110 002

आवरण : तारा सहगल

मुद्रक : त्रिवेणी आफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032

BAHUJAN HITAY
by Arundhati Roy

ISBN : 81-7178-795-9

DM 110
06955
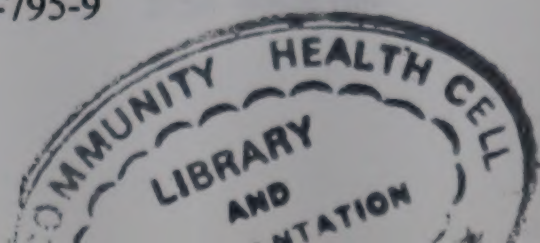
नर्मदा और उसकी घाटी में पल रहे जीवन के लिए
और
एक अद्‌भुत लड़ाई के अद्‌भुत योद्धाओं–
श्रीपाद, नंदिनी, सिल्वी, आलोक, मेधा, बाबा आम्टे और
नर्मदा बचाओ आंदोलन के अनेक साथियों के लिए

आभार

दो लोग ऐसे हैं जो 'जिनके बिना (यह किताब नहीं लिखी जाती)' की श्रेणी में आते हैं :

हिमांशु ठक्कर, जिसने पहली बार—बहुत कौशल से, नपे-तुले ढंग से, लगभग शर्माते हुए—नर्मदा घाटी विकास परियोजना की दहशतों से मेरा परिचय कराया। एक समुदाय को तहस-नहस करने वाले इस बारीक तरीके की पहली (विलंबित) रूपरेखा के लिए मैं उसकी कृतज्ञ हूँ।

पैट्रिक मैकली को, जिससे मैं कभी नहीं मिली, मगर जिसकी किताब 'साइलेंस्ड रिवर्स' वह बुनियाद है जिस पर यह किताब टिकी है। अगर आप बड़े बाँधों के बारे में वास्तव में कोई नायाब किताब पढ़ना चाहते हैं तो मेरी छोड़िए और उसकी पढ़िए।

झरना झावेरी को, योद्धाओं में सबसे जुझारू और दोस्तों में सबसे नेक, मेरे साथ सफर करने का शुक्रिया। सारे रास्ते।

दीपक सरकार और अनुराग सिंह को, आपकी मैत्री और शांत सुविचारित सलाह और समझ के लिए।

तारा और बिट्टू सहगल को, सहायता और सहयोग के लिए।

एन. राम और विनोद मेहता, 'फ्रंटलाइन' और 'आउटलुक' के संपादकों को, जिन्होंने सबसे पहले 'बहुजन हिताय' को प्रकाशित किया। यह जानकर आश्वस्ति मिलती है कि बड़े लोग अभी भी बड़े जोखिम मोल लेते हैं। आप जैसे लोग ज्यादा नहीं हैं।

जोजो वैन ग्राइसन, गोलक खंडुआल, अर्जुन रैना, संजय काक। पुराने आत्मीय दोस्त। इस रास्ते के सहयात्री।

अंत में, प्रदीप क्रिशन को, जिसके बिना मैं जिंदगी पूरी तरह जी नहीं पाती।

शुक्रिया।
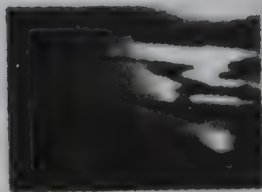
'अगर आपको तकलीफ उठानी है तो देश के हित में उठानी चाहिए...।'

—जवाहरलाल नेहरू, 1948 में हीराकुंड बाँध की वजह से विस्थापित होने वाले गाँव वालों से बातचीत करते हुए।[1]

एक पहाड़ी पर खड़ी मैं जोर से हँस पड़ी थी।

जलसिंधि से एक नाव पर मैंने नर्मदा को पार किया था और दूसरे किनारे की चढ़ान पर चढ़ गई थी जहाँ से मुझे नंगी, नीची पहाड़ियों के ताज के पार पसरे सिक्का, सुरुंग, नीमगवाना और डोमखेड़ी के आदिवासी गाँव दिखाई दे रहे थे। मुझे उनके नाजुक घर दिखाई पड़ रहे थे। मुझे उनके खेत और उनके पीछे के जंगल दिखाई पड़ रहे थे। मैदान में चाबी दी हुई मूँगफलियों सरीखे इधर-उधर भागते छोटे-छोटे बच्चे और उनसे भी छोटी बकरियाँ मुझे दिखाई पड़ रहे थे। मुझे पता था कि मैं वेदों से भी पुरानी एक सभ्यता को देख रही हूँ जिसका इस मानसून में डूबना नियत है जब सरदार सरोवर जलाशय उठकर इसे लील लेगा। आखिर अदालत ने इसे अपनी मंजूरी दे दी है।

मैं क्यों हँस पड़ी थी ?

क्योंकि मुझे अचानक याद आया कि कितनी मासूमियत और चिंता के साथ दिल्ली में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों ने (सरदार सरोवर बाँध में आगे के निर्माण पर लगी वैधानिक रोक हटाने से पहले) पूछताछ

की थी कि पुनर्वास वाली बस्तियों में आदिवासी बच्चों के लिए खेलने को पार्क होंगे या नहीं। सरकार की नुमाइंदगी कर रहे वकीलों ने तेजी से उन्हें यकीन दिलाया था कि हाँ होंगे, और इससे भी ज्यादा, हर पार्क में झूले और सी-सॉ और स्लाइड्स होंगे। मैंने ऊपर अंतहीन आसमान और नीचे तेज बहती नदी को देखा और एक नन्हें, संक्षिप्त लम्हे के लिए इस सब के बेतुकेपन ने मेरे गुस्से को उलट दिया और मैं हँस पड़ी। किसी असम्मान का मेरा कोई इरादा नहीं था।

शुरू में ही यह साफ कर दूँ कि मैं कोई नगर-निंदक नहीं हूँ। मेरा वक्त एक गाँव में भी गुजरा है। उसके अकेलेपन का, उसके अन्याय का, उसकी अमानवीयता का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव रहा है। मैं कोई विकास-विरोधी खूसट नहीं हूँ, न ही परंपरा और रीति-रिवाज की अक्षुण्णता की ध्वजधारी प्रचारक हूँ। मैं, बस, उत्सुक हूँ। उत्सुकता मुझे नर्मदा की घाटी में खींच लाई। सहज बुद्धि ने मुझे बताया कि यह एक बड़ा मामला है। ऐसा मामला जिसके जरिए उस दलदल से गुजरना मुमकिन होगा जिसमें जंग की लकीरें साफ तौर पर खिंची हुई हैं, लड़ रही सेनाएँ उनके दोनों तरफ इकट्ठा हैं। एक ऐसा मामला जिसमें उम्मीद, आक्रोश, सूचना, गलतबयानी, राजनैतिक छल-छद्म, अभियांत्रिक महत्त्वाकांक्षा, कपटी समाजवाद, रेडिकल सक्रियता, प्रशासकीय टाल-मटोल, मिथ्या जानकारी से उपजी भावनात्मकता और हाँ, अंतरराष्ट्रीय अनुदान की हमेशा संदिग्ध चरित्र वाली राजनीति शामिल हैं।

मैंने ज्वायस और नोबोकोव को किनारे रख दिया, डॉन डेलिलो की मोटी किताब का पढ़ना स्थगित किया और इसकी जगह निकासी और सिंचाई की रपटें, बाँधों के बारे में किताबें, पत्रिकाएँ और डाक्यूमेंट्रियाँ देखने लगी कि वे क्यों बनाए जाते हैं और क्या करते हैं ?

मेरे प्रारंभिक प्रश्नों से ही स्पष्ट हो गया कि बहुत कम लोगों को पता है कि वास्तव में नर्मदा घाटी में क्या हो रहा है। जिन्हें पता है, उन्हें काफी कुछ पता है। ज्यादातर को कुछ नहीं पता है, मगर फिर भी लगभग हरेक के पास अपनी एक गहरे जज्बे से भरी राय है। कोई तटस्थ नहीं है। मुझे बहुत जल्दी महसूस हो गया कि मैं बारूदी सुरंगों वाले इलाके में भटक रही हूँ।

भारत में पिछले दस सालों के दौरान सरदार सरोवर के खिलाफ लड़ाई एक नदी के लिए चल रही लड़ाई से कहीं ज्यादा बड़ी चीजों की प्रतीक हो गई है। यह इसकी ताकत भी है और कमजोरी भी। कुछ साल पहले यह एक बहस हो गई थी और इसने लोगों का ध्यान बड़े पैमाने पर आकर्षित किया था। इसने दाँव ऊँचा कर दिया और जंग का रंग बदल डाला। एक नदी-घाटी की नियति की लड़ाई होने की जगह इसने समूचे राजनैतिक तंत्र को शक के दायरे में लाना शुरू किया। अब जो चीज सान पर है वह हमारे प्रजातंत्र का मूल चरित्र है। कौन है यहाँ की जमीन का मालिक ? यहाँ की नदियों पर किसकी मिल्कियत है ? इसके जंगलों पर ? इसकी मछलियों पर ? ये बड़े सवाल हैं। इन्हें राज्य द्वारा भारी संजीदगी से लिया जा रहा है। उसके अधीन काम करने वाली सारी संस्थाओं–फौज, पुलिस, अफसरशाही, अदालत–द्वारा एक ही सुर में इसका जवाब दिया जा रहा है। और सिर्फ जवाब ही नहीं दिया जा रहा है, बल्कि क्रूर, अमानवीय और दो टूक ढंग से दिया जा रहा है।

इस घाटी के लोगों के लिए इस तथ्य का कि चीजें इस हद तक दाँव पर लगी हुई हैं, नतीजा यह हो गया है कि उनका सबसे असरदार हथियार–इस नियत घाटी में नियत मुद्दों पर नियत तथ्य–बड़े मुद्दों की बहस में भोथरा कर दिया गया है। इस बहस का बुनियादी आधार इतना फुला दिया गया कि वह फूट कर किरचों में बदल गया जो वक्त के साथ बह चुकी हैं। कभी-कभार इस पहेली का कोई असंबद्ध टुकड़ा तिर कर चला आता है–विस्थापित लोगों के प्रति सरकार के लापरवाह बर्ताव की उत्तेजना से भरा ब्योरा; इस बात का गुस्सा कि किस तरह 'मुट्ठी-भर कार्यकर्ताओं' वाले नर्मदा बचाओ आंदोलन ने पूरे देश को बंधक बना रखा है; सर्वोच्च न्यायालय में नर्मदा बचाओ आंदोलन की याचिका की प्रगति की खबर देता कोई विधि संवाददाता।

हालाँकि इस विषय पर काफी कुछ लिखा जा चुका है, मगर उसमें से ज्यादातर एक 'खास रुचि' के पाठक वर्ग के लिए है। अखबारी खबरें परियोजना के अलग-थलग पड़े पक्षों के बारे में हुआ करती हैं। सरकारी दस्तावेज 'गोपनीय' बना कर रख दिए गए हैं। मेरा खयाल है, यह कहना

उचित होगा कि इस मुद्दे पर आम राय काफी अनगढ़ है और इसी अनगढ़ता के साथ दो खानों में बँटी हुई है।

एक तरफ इसे 'विकास' की आधुनिक, तार्किक, प्रगतिशील ताकतों के विरुद्ध 'निओ ल्यूडाइट'—नव प्रौद्योगिकी-विरोधी इच्छाओं—एक अतार्किक, भावुक, विकास-विरोधी प्रतिरोध की लड़ाई के रूप में देखा जा रहा है जिसे एक देहाती प्राक्-औद्योगिक सपने द्वारा हवा दी जा रही है। दूसरी तरफ गाँधी बनाम नेहरू के द्वंद्व के तौर पर। यह इस समूचे दुखद प्रसंग को कपट, झूठ, नकली वायदों और लगातार तेज होते कामयाब प्रचार के दलदल से उठाकर एक नकली वैधता प्रदान करता है। यह जताता है कि दोनों पक्षों के दिमाग में देश के व्यापक कल्याण की बात है—लेकिन वे महज इसे हासिल करने के तरीकों पर असहमत हैं।

दोनों व्याख्याएँ इस विवाद को एक अनावश्यक मोड़ देती हैं। दोनों भावनाओं को झकझोरती हैं जो इस नियत कहानी के नियत तथ्यों पर छा जाती हैं। दोनों इस बात का संकेत हैं कि हमें कितनी शिद्दत से नए नायक, नई तरह के नायक चाहिए और किस तरह हमने अपने पुराने नायकों का बेतरह दोहन किया है, (ठीक उसी तरह जैसे हम अपने गेंदबाजों का करते हैं)।

गाँधी बनाम नेहरू की बहस इस पूरी तरह समकालीन मुद्दे को पीछे धकेल कर एक पुरानी बोतल में डाल देती है। नेहरू और गाँधी नेक लोग थे। विकास के उनके प्रतिमान अंतर्भूत नैतिकता की बुनियाद पर टिके हैं। नेहरू सोवियत शैली के केंद्रीकृत राज्य की पितृसत्तात्मक संरक्षणवादी भूमिका के हामी थे तो गाँधी विकेंद्रीकृत ग्राम गणराज्य की करुण और मातृमूलक नैतिकता के। दोनों अच्छी तरह काम करते, सिर्फ अगर हम बेहतर इनसान हुए होते। अगर हमने सिर्फ खादी पहनी होती और अपनी आदिम इच्छाओं का दमन किया होता। पचास साल के इस दौर में, यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हम पैमानों पर खरे नहीं उतरे। हम उसके करीब भी नहीं पहुँचे हैं। हमें अपनी बुनियादी फितरत को लेकर एक ताजातरीन बीमा योजना की जरूरत है।

यह मुमकिन है कि इस सदी के लिए अपने नायकों का कोटा हम

पूरा कर चुके हों, लेकिन जब तक हम नए, चमकते नायकों के आने का इंतजार कर रहे हैं, तब तक हमें नुकसान को सीमित करना होगा। हमें अपने छोटे-छोटे नायकों को पहचानना और मजबूत करना है। ऐसे हमारे पास कई हैं (कई)। हमें नियत तरह के युद्ध नियत तरीके से लड़ने हैं। कौन जाने, शायद इक्कीसवीं सदी के कोष में हमारे लिए यही हो : बड़े का विध्वंस। बड़े बम, बड़े बाँध, बड़ी विचारधाराएँ, बड़े अंतर्विरोध, बड़े देश, बड़ी लड़ाइयाँ, बड़े नायक, बड़ी गलतियाँ। शायद यह लघुता की सदी होगी—छोटी चीजों की। शायद अभी ही, इस खास लम्हे में, आसमान में कोई छोटी-सी देवी हमारे लिए तैयार हो रही है। क्या यह हो सकता है ? क्या यह मुमकिन हो सकता है ? मुझे यह एक लजीज खयाल लगता है।

मैं घाटी की ओर इसीलिए आकर्षित हुई थी कि मुझे अहसास हो गया था कि नर्मदा की लड़ाई एक नए, ज्यादा दुखद दौर में दाखिल हो गई है। मैं गई क्योंकि लेखक कहानियों की तरफ कुछ उसी तरह जाते हैं जैसे गिद्ध मुर्दों की तरफ खिंचते हैं। मेरा मकसद करुणा नहीं था। यह शुद्ध लालच था। मेरा अनुमान सही निकला। मुझे वहाँ एक कहानी मिली।

और क्या कहानी है यह !
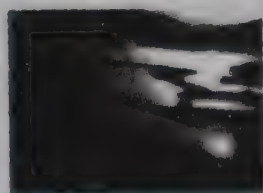
"लोग कहते हैं कि सरदार सरोवर एक बहुत महँगी परियोजना है। लेकिन इससे लाखों लोगों को पीने का पानी मिलेगा। यह हमारी जीवनरेखा है। क्या आप इसकी कोई कीमत लगा सकते हैं ? जिस हवा में हम साँस लेते हैं, उसकी कोई कीमत हो सकती है क्या ? हम जिएँगे। हम पानी लेंगे। गुजरात का गौरव बढ़ाएँगे।"

—1983 में दिल्ली की एक आम रैली में बोलते हुए गुजरात के मुख्यमंत्री की पत्नी, उर्मिला बेन पटेल।

"हमारा आग्रह है कि बाँध बनते ही आप अपने घरों से निकल जाएँ। घर से निकल जाना ही आपके लिए बेहतर होगा। नहीं तो हम पानी छोड़ देंगे और आपको डुबा देंगे।"

—1961 में पौंग बाँध के डूब वाले इलाके में एक आम सभा को संबोधित करते हुए, मोरारजी देसाई।[2]

"सिरकार जहर दे देत सबको, तो अच्छा रहत। अपनो मकान को रहन वालो इहां का अच्छा लगे, इ टट्टीखाने मा। वोही वो रहे आतो अकेले ओके बाँध के साथ।"

—रामबाई, जिसका गाँव नर्मदा पर बरगी बाँध बनने के बाद डूब गया था। अब वह जबलपुर की एक झोंपड़-पट्टी में रहती है।[3]

आजादी के पचास सालों में नेहरू के 'बाँध आधुनिक भारत के मंदिर हैं' वाले वक्तव्य के बाद (जिस पर नेहरू को अपने जीवनकाल में ही अफसोस हो चला था[4]) उनके दरबारियों ने अप्राकृतिक उन्माद के साथ खुद को बाँध बनाने के धंधे में झोंक दिया। बाँध-निर्माण राष्ट्र-निर्माण का पर्याय हो गया। उनका जोशोखरोश ही संदेह पैदा करने की एक बड़ी वजह होना चाहिए था। उन्होंने सिर्फ नए बाँध और नई सिंचाई व्यवस्था ही नहीं बनाई, उन्होंने उस छोटे और पारंपरिक तंत्र का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया और उस सबको नष्ट होने को छोड़ दिया, जिसे ग्राम समुदायों ने हजारों वर्षों में विकसित किया था।[5] इस नुकसान की भरपाई के लिए सरकार ने और ज्यादा बाँध बनाए। बड़े बाँध, छोटे बाँध, लंबे बाँध, ठिगने बाँध। इस परिश्रम का नतीजा यह हुआ है कि भारत आज दुनिया का तीसरा सबसे बड़ा बाँध-निर्माता देश होने का दावा करता है। केंद्रीय जल आयोग के मुताबिक, हमारे यहाँ 3600 बाँध ऐसे हैं जो बड़े बाँधों की श्रेणी में आते हैं, इनमें से 3300 का निर्माण आजादी के बाद हुआ है। करीब 1000 और निर्माणाधीन हैं।[6] फिर भी हमारी आबादी के पाँचवें हिस्से—बीस करोड़ लोगों—को पीने का पानी हासिल नहीं है और दो-तिहाई—साठ करोड़ लोगों—के पास बुनियादी शौच-सफाई व्यवस्था नहीं है।[7]

बड़े बाँधों की शुरुआत अच्छी थी लेकिन उनका नतीजा बुरा निकला। एक ज़माना था जब वे हर किसी के पास थे, हर किसी की चाहत थे—साम्यवादी, पूँजीवादी, ईसाई, मुसलमान, हिंदू, बौद्ध। एक ज़माना था जब बड़े बाँधों पर कविता की जाती थी। अब नहीं। सारी दुनिया में बड़े बाँधों के विरुद्ध एक आंदोलन जोर पकड़ रहा है। पहली दुनिया में वे सरकारी तौर पर खत्म किए जा रहे हैं, उड़ाए जा रहे हैं।[8] वे फायदे से ज्यादा नुकसान करते हैं, यह तथ्य अब महज अनुमान नहीं रह गया है। बड़े बाँधों का ज़माना अब बीत गया है। वे असंगत हैं। वे अप्रजातांत्रिक हैं। वे सरकार का अधिकार जमाने का जरिया होते हैं (यह तय करते हुए कि कौन कितना पानी लेगा और कौन कहाँ क्या उगाएगा)। वे किसी किसान की मति मार देने का शर्तिया नुस्खा हैं। वे गरीबों से पानी, जमीन और सिंचाई छीनने का और अमीरों को भेंट दे देने का निर्लज्ज माध्यम हैं। उनके जलाशय बहुत बड़ी तादाद में लोगों को विस्थापित कर बेघर और विपन्न बना देते हैं। पारिस्थितिकी के लिहाज से भी वे निहायत बुरे हैं।[9] वे धरती को बंजर में बदल रहे हैं। उनकी वजह से बाढ़ आती है, दलदल बनता है, ऊसरपन पसरता है, वे बीमारियाँ फैलाते हैं। ऐसे प्रमाण बढ़ रहे हैं जो बाँधों को भूकंप से भी जोड़ते हैं।

वास्तव में बड़े बाँध आधुनिक सभ्यता के स्मारक, प्रकृति पर मनुष्य की विजय की निशानी की अपनी भूमिका पर कतई खरे नहीं उतरे हैं। स्मारकों से कालातीत होने की उम्मीद की जाती है, मगर बाँधों का जीवन बेहद छोटा रहा है। वे बस उतने ही दिन तक काम के रहते हैं जितना वक्त प्रकृति को उन्हें गाद से भरने में लगता है।[10] अब यह आम जानकारी है कि बड़े बाँध ठीक उसका उल्टा करते हैं जो उनके पक्ष में प्रचार करने वाले लोग बताते हैं—राष्ट्रीय उपलब्धि के लिए स्थानीय पीड़ा के मिथ का गुब्बारा कब का फूट चुका।

इन सारी वजहों से, पहली दुनिया में बाँध-निर्माण-उद्योग संकट में है और उसके पास काम नहीं है। इसीलिए इसे तीसरी दुनिया में विकास-सहायता के नाम पर निर्यात किया जा रहा है[11], साथ-साथ उनके दूसरे कबाड़ भी आ रहे हैं, जैसे—पुराने हथियार, सेवामुक्त हो चुके जहाज और प्रतिबंधित

कीटनाशक।

एक तरफ भारतीय सरकार, हर भारतीय सरकार बड़ी निष्ठा से पहली दुनिया को गाली देती है, दूसरी तरफ तोहफे की शक्ल में आ रहा उनका कचरा हासिल करने के लिए भुगतान करती है। अनुदान बस एक व्यावसायिक उद्यम ही है। जैसे उपनिवेशवाद था। इसने अफ्रीका के ज्यादातर हिस्सों को तबाह कर दिया है। बंग्लादेश इसकी परिचर्या के नीचे पिस रहा है। हमें यह सब सुन्न कर देने वाले ब्योरों के साथ पता है। फिर भी भारत में हमारे नेता गुलामों की-सी मुस्कराहट के साथ इसका स्वागत करते हैं (और अपने लड़खड़ा रहे आत्मसम्मान को सहारा देने के लिए परमाणु बम बनाते हैं)।

पिछले पचास सालों में, भारत ने 87,000 करोड़ रुपए[12] सिर्फ सिंचाई के क्षेत्र में[13] खर्च किए हैं। तिस पर भी आज बाढ़ और अकाल से त्रस्त रहने वाले इलाकों की संख्या 1947 से कहीं ज्यादा हो गई है।[14] सिंचाई की तबाही, बाँधों से आने वाली बाढ़ों और हरित क्रांति[15] से तेजी से हो रहे मोहभंग (कम होती उपज, खराब होती जमीन) के चिंतित करने वाले प्रमाणों के बावजूद अपने 3600 बाँधों में से एक के भी परियोजना-पश्चात मूल्यांकन का आदेश सरकार ने नहीं दिया जिससे देखा जा सके कि इसने वह हासिल किया भी है या नहीं जो इसका लक्ष्य था, इसकी लागत न्यायसंगत है या नहीं, या यह भी कि इसकी वास्तविक लागत ही क्या है।

भारत सरकार के पास विस्तृत आँकड़े हैं कि देश कितने लाख टन अनाज या खाद्य तेल का उत्पादन करता है और आज हम 1947 की तुलना में कितना ज्यादा उत्पादन कर रहे हैं। वह आपको बता सकती है कि एक साल में कितने बाक्साइट का उत्खनन होता है या राष्ट्रीय राजमार्गों का कुल क्षेत्रफल कितना है। मिनट-दर-मिनट स्टॉक एक्सचेंज या विश्व-बाजार में रुपए की कीमत के बारे में सूचना रखना मुमकिन है। हमें पता है कि शुक्रवार के दिन शारजाह में हमने कितने क्रिकेट मैच हारे हैं। यह जानना मुश्किल नहीं है कि किसी एक साल में भारत में कितने लोग स्नातक होते हैं या नसबंदी कराते हैं। लेकिन जो बाँधों से विस्थापित

हुए हैं या 'राष्ट्रीय प्रगति' की बलि-वेदी पर कुरबान कर दिए गए हैं, भारत सरकार के पास उन लोगों की संख्या को लेकर कोई आँकड़ा नहीं है। क्या इससे अचरज नहीं होता ? आप प्रगति को कैसे माप सकते हैं, अगर आपको पता नहीं है कि इसकी कीमत क्या है और वह कीमत कौन चुका रहा है ? कैसे 'बाजार' चीजों की कोई कीमत निर्धारित कर सकता है–अन्न, कपड़ों, बिजली, बहते हुए पानी की–अगर वह *वास्तविक* लागत को ध्यान में नहीं रखता ?

इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन[16] द्वारा 54 बड़े बाँधों को लेकर किए गए एक विस्तृत अध्ययन के मुताबिक एक बड़े बाँध से विस्थापित होने वाले लोगों की औसत संख्या 44,182 है। मानती हूँ कि 3300 में से 54 बाँधों का नमूना बहुत पर्याप्त नहीं है। लेकिन चूँकि यही हमारे पास है, हम एक मोटा हिसाब लगाने की कोशिश कर सकते हैं। सावधानी बरतते हुए विस्थापित लोगों की संख्या आधी कर देते हैं। या और ज्यादा एहतियात बरतते हुए प्रति बड़े बाँध विस्थापित होने वालों की संख्या 10,000 मान लेते हैं। यह नामुमकिन तौर पर कम संख्या है, मुझे पता है लेकिन...कोई बात नहीं।

अपने कैलकुलेटर निकालिए।

3,300x10,000=3,3000000 तीन करोड़ तीस लाख। यही संख्या सामने आती है। तीन करोड़ तीस लाख लोग। पिछले पचास सालों में 'सिर्फ' बड़े बाँधों द्वारा विस्थापित। और उन लोगों की संख्या क्या है जो दूसरी, हजारों विकास परियोजनाओं द्वारा विस्थापित किए गए ? एक निजी व्याख्यान में योजना आयोग के सचिव एन.सी. सक्सेना ने कहा कि उनके खयाल से यह संख्या पाँच करोड़ के आसपास है (जिनमें से चार करोड़ बड़े बाँधों द्वारा विस्थापित हैं)।[17] हममें यह कहने की हिम्मत नहीं है क्योंकि यह आधिकारिक नहीं है। यह आधिकारिक नहीं है क्योंकि हममें यह कहने की हिम्मत नहीं है। अतिशयोक्तिपूर्ण कहे जाने के डर से यह आपको बस बुदबुदाना होगा। आपको बस अपने-आपसे फुसफुसाना है क्योंकि यह वास्तव में अविश्वसनीय लगती है। यह नहीं हो सकता है, मैं खुद से कहती रही हूँ। मैंने जरूर कुछ शून्य इधर-उधर कर दिए होंगे।

यह सच नहीं हो सकता। इसे जोर से कहने की हिम्मत शायद ही मुझमें है।

पाँच करोड़ लोग।

कुछ तो कहो, सरकार, ना-नुकुर करो। मोल-तोल करो। इसे कम करो।

मुझे तो ऐसा लग रहा है जैसे पैर तले कोई बहुत बड़ी सामूहिक कब्र आ गई हो।

पाँच करोड़ गुजरात की आबादी से ज्यादा हैं। ऑस्ट्रेलिया की आबादी का लगभग तिगुना। विभाजन ने भारत में जितने लोगों को बेघर किया, उससे भी कहीं तीन गुना ज्यादा। फिलीस्तीनी शरणार्थियों से दस गुना ज्यादा। आज पश्चिमी दुनिया उन दस लाख लोगों के भविष्य को लेकर बदहवास है जो कोसोवो से पलायन कर गए हैं।

विस्थापितों में बड़ा प्रतिशत अदिवासी लोगों का है (सरदार सरोवर बाँध के मामले में 57.6 प्रतिशत)।[18] इसमें दलितों को भी शामिल कीजिए और सारा आँकड़ा अश्लील हो जाता है। अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग के मुताबिक यह आँकड़ा लगभग 60 प्रतिशत है।[19] अगर आप ध्यान दें कि आदिवासी लोग भारत की आबादी का महज आठ फीसदी हैं और दलित पंद्रह फीसदी, तो कहानी का एक बिलकुल नया आयाम सामने आ जाता है। इन विकास के शिकार लोगों के नस्ली 'पराएपन' से राष्ट्र-निर्माताओं का बोझ बहुत-कुछ कम हो जाता है। यह 'एक्सपेंस एकाउंट' रखने जैसा है। कोई दूसरा आपके बिलों का भुगतान करता है। किसी दूसरे देश के लोग। किसी दूसरी दुनिया के। भारत के सबसे गरीब लोग उसके सबसे अमीर लोगों की जीवन-शैली के लिए सब्सिडी दे रहे हैं।

क्या मैंने किसी को दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के बारे में कुछ कहते सुना है ?

इन करोड़ों लोगों का क्या हुआ है ? वे अब कहाँ हैं ? कैसे वे आजीविका कमाते हैं ? किसी को वास्तव में पता नहीं है। (पिछले महीने के अखबारों में इस बात का ब्योरा था कि नागार्जुन सागर बाँध परियोजना से विस्थापित हुए लोग किस तरह अपने बच्चों को गोद लेने वाली विदेशी

एजेंसियों को बेच रहे हैं।[20] सरकार ने दखल दिया और इन बच्चों को दो सार्वजनिक अस्पतालों में रखा जहाँ छः बच्चे लापरवाही के चलते मर गए। जहाँ तक पुनर्वास का सवाल है, सरकार की प्राथमिकताएँ स्पष्ट हैं। भारत की कोई राष्ट्रीय पुनर्वास नीति नहीं है। 1894 के (1984 में संशोधित) भूमि अधिग्रहण कानून के मुताबिक सरकार किसी विस्थापित व्यक्ति को नगद मुआवजे के अलावा कुछ भी देने के लिए कानूनी तौर पर बाध्य नहीं है। ज़रा कल्पना कीजिए। एक ऐसे देश में एक अशिक्षित आदिवासी मर्द को (औरतों को कुछ नहीं मिलता) किसी भारतीय सरकारी कर्मचारी के हाथ से नगद मुआवजा, जहाँ डाकिया भी एक डाक के लिए 'टिप' की माँग करता है ! ज्यादातर आदिवासी लोगों के पास अपनी जमीन का औपचारिक पट्टा नहीं है और इसीलिए वैसे भी वे मुआवजे के लिए दावा नहीं कर सकते। ज्यादातर आदिवासी लोगों, या कहें ज्यादातर छोटे किसानों के लिए पैसे की वही अहमियत है जो सर्वोच्च न्यायालय के जज के लिए एक बोरी खाद की है।

लाखों-लाख विस्थापित लोगों का अब कोई वजूद नहीं है। जब इतिहास लिखा जाता है, वे इसमें नहीं होते। आँकड़ों में भी नहीं। उनमें से कुछ लगातार तीन और चार बार विस्थापित हुए हैं—बाँध के लिए, चाँदमारी के इलाके के लिए, दूसरे बाँध के लिए, यूरेनियम की खान के लिए, बिजली परियोजना के लिए। एक बार वे लुढ़कना शुरू करते हैं तो फिर रुकने की कोई जगह नहीं होती। इनमें से बहुत बड़ी संख्या आखिरकार हमारे बड़े शहरों की परिधि पर झोंपड़-पट्टियों में खप जाती है, जहाँ यह सस्ते निर्माण मजदूरों की एक बहुत बड़ी भीड़ में बदल जाती है (जो और ज्यादा परियोजनाओं पर काम करती है जिससे और ज्यादा लोग बेदखल होते हैं)। सही है कि उनका सफाया नहीं किया जा रहा है या उन्हें गैस चैंबरों में नहीं डाला जा रहा है, मगर मैं दावा करती हूँ कि उनकी रिहाइश का स्तर थर्ड राइख के किसी यातना शिविर से बदतर है। वे कैदी नहीं हैं लेकिन वे मुक्ति के मतलब की एक दूसरी ही परिभाषा देते हैं।

और तब भी यह दुःस्वप्न खत्म नहीं होता। जब भी चुनाव खासे दूर होते हैं और शहरी अमीरों में सफाई-सुथराई को लेकर खुजली शुरू हो

जाती है तो सफाई अभियान पर जो सरकारी बुलडोजर निकलते हैं, उनकी वजह से अपनी नारकीय झोंपड़ियों से भी उनके उजड़ने का सिलसिला चलता रहता है। दिल्ली जैसे शहरों में, सार्वजनिक स्थलों पर शौच करने पर पुलिस की गोली खाने का खतरा भी उनके सामने रहता है—जैसे कि दो साल भी नहीं हुए तीन झोंपड़-पट्टी वालों को गोली मार दी गई थी।

1770 के दशक में फ्रेंच-कनाडा युद्ध में लॉर्ड अम्हर्स्ट ने कनाडा के ज्यादातर निवासी रेड इंडियंस को चेचक के कीटाणुओं से युक्त कंबल देकर मार डाला था। दो शताब्दी बाद, आज भारत के हम लोगों ने वैसे ही नतीजे हासिल करने के सुगम तरीके खोज निकाले हैं।

भारत में करोड़ों विस्थापित लोग और कुछ नहीं, एक अघोषित युद्ध के शरणार्थी हैं। और हम ठीक श्वेत अमेरिका, फ्रेंच-कनाडा और हिटलर के जर्मनी के नागरिकों की तरह इसे नजरअंदाज कर रहे हैं। क्यों ? क्योंकि हमें बताया गया है कि यह बहुजन हिताय किया जा रहा है; कि यह प्रगति के नाम पर, राष्ट्रीय हित के नाम पर किया जा रहा है। इसलिए खुशी से, बिना कोई सवाल किए, कृतज्ञता के साथ हम वह मान लेते हैं जो हमें बताया जाता है। हम मान लेते हैं कि ऐसा मानना ही हमारे लिए फायदेमंद है।

ज़रा अपने भरोसे को हिलाने की इजाजत दीजिए। अपना हाथ मेरे हाथ में दीजिए और इस भूलभुलैया में मेरे साथ चलिए। यह कीजिए क्योंकि यह जरूरी है कि आप समझें। अगर आप असहमत होने की कोई वजह पाते हों तो खुशी से दूसरे पक्ष में शामिल हो जाइए। मगर कृपया इसे अनदेखा न कीजिए, दूसरी तरफ मत देखिए।

यह कहानी कहना कोई आसान काम नहीं है। यह आँकड़ों और व्याख्याओं से भरी पड़ी है। आँकड़ों से मेरी आँखें चौंधिया जाया करती थीं। लेकिन अब नहीं! तब से नहीं जब से उनके रास्ते समझ में आने लगे हैं।

मुझ पर यकीन कीजिए। यहाँ एक कहानी है।

यह सच है कि भारत ने तरक्की की है। यह सच है कि 1947 में, जब उपनिवेशवाद का औपचारिक तौर पर खात्मा हुआ था, भारत के पास

अनाज की कमी थी। 1950 में हम पाँच करोड़ दस लाख टन अनाज पैदा करते थे। आज हम 20 करोड़ टन के आसपास पैदा कर रहे हैं।[21]

यह सच है कि 1999 में राज्य के अनाज भंडारों में तीन करोड़ टन अनबिका अनाज इकट्ठा था। लेकिन यह भी सच है कि उसी वक्त चालीस फीसदी भारतीय आबादी—35 करोड़ से ऊपर लोग—गरीबी रेखा के नीचे रह रही थी।[22] यह 1947 में देश की कुल आबादी से बड़ी तादाद है।

भारतीय इतने गरीब हैं कि वे अपने देश द्वारा उपजाया अनाज नहीं खरीद सकते। भारतीयों को उस तरह के भोजन का उत्पादन करने को कहा जा रहा है जिसे खाना उनकी हैसियत से बाहर है। देखिए कि पश्चिमी उड़ीसा के कालाहांडी जिले में क्या हुआ जो सबसे ज्यादा भुखमरी के लिए जाना जाता है। 1996 के अकाल में लोग भुखमरी के शिकार होकर मरे (राज्य के मुताबिक 16, प्रेस के मुताबिक सौ से ऊपर)।[23] मगर उसी साल कालाहांडी में चावल की उपज का प्रतिशत राष्ट्रीय औसत से अधिक था। चावल कालाहांडी से केंद्र को निर्यात किया जा रहा था।

निश्चय ही भारत ने तरक्की की है, मगर ज्यादातर लोगों ने नहीं।

हमारे नेता कहते हैं कि चीन और पाकिस्तान से अपनी हिफाजत के लिए हमारे पास नाभिकीय प्रक्षेपास्त्र होने ही चाहिए। मगर हमें खुद से कौन बचाएगा ?

किस तरह का देश है यह ? कौन है इसका मालिक ? कौन इसे चलाता है ? यह हो क्या रहा है ?

यह राज्य के बारे में कुछ राज़ उगलने का वक्त है। भले ही अकुशल, दफ्तरशाह, भ्रष्ट, मगर कुल मिलाकर नेक, अपरिहार्य तौर पर लोकतांत्रिक भारतीय राज्य के मिथ का गुब्बारा फोड़ने का वक्त। पाँच करोड़ लोगों की गुमशुदगी का सबब सिर्फ लापरवाही नहीं हो सकती। कर्म भी नहीं हो सकते। हम खुद को न भरमाएँ। इसके पीछे एक तरीका काम कर रहा है, अचूक, निर्मम और सौ फीसदी मनुष्यकृत।

भारतीय राज्य ऐसा राज्य नहीं है जो विफल हो गया है। यह एक ऐसा राज्य है जो अपना तयशुदा मकसद पूरा करने में असरदार ढंग से

कामयाब रहा है। जिस तरह इसने भारत के संसाधनों को–इसके पानी को, इसकी जमीन को, इसके जंगल को, इसकी मछलियों को, इसके मांस को, इसके अंडों को–हथिया लिया है और अपने गिने-चुने खास लोगों में (निस्संदेह, बदले में कुछ खास फायदों के लिए) बाँट दिया है, उसमें इसने निर्मम निपुणता दिखाई है। अपने भाड़े के अभिजात लोगों की कतार की हिफाजत करने के कौशल में इसने बेहतरीन महारत साधी है। उन्हें तहस-नहस करने के तरीकों में यह उत्कृष्ट रहा है जो इसके इरादों के लिए असुविधाजनक बनते हैं। मगर जिस तरह यह सब कुछ हासिल करके भी पहले से बेहतर और मोहक रूप में उभर कर सामने आता है, वह इसका सबसे शानदार कौशल है। जिस तरह यह सरकारी फाइलों में, जहाँ तक सिर्फ तंत्र के रक्षकों–मंत्रियों, अफसरशाहों, राज्य अभियंताओं, रक्षा-रणनीतिकारों–की पहुँच है, अपने राज़ छुपाए रखने में, उन सूचनाओं को गोपनीय रखने में कामयाब रहा है जिनका एक अरब लोगों के रोजमर्रा से गहरा वास्ता है। निश्चय ही यह काम हम उनके लिए आसान बनाते रहे हैं, हम, जो इससे लाभान्वित होते रहे हैं। हम ध्यान रखते हैं कि बहुत गहरा न खोदें। हम वास्तव में इसके वीभत्स ब्योरे नहीं जानना चाहते।

हमारी वजह से आजादी आई (और चली गई), चुनाव आते हैं और जाते हैं, मगर यथास्थिति कायम है। इसके विपरीत पुरानी व्यवस्था और अभेद्य हुई है, दरार और गहरी हुई है। हम हुक्मरान, अपनी भरी-पूरी मेज के आसपास देखने के लिए थोड़ा रुकते तक नहीं हैं। लगता है हम जानते ही नहीं कि जिन संसाधनों पर हम जश्न मना रहे हैं वे सीमित हैं और तेजी से छीज रहे हैं। बैंक में नगद पैसा तो है, मगर जल्दी ही उससे खरीदे जा सकने लायक कुछ नहीं रह जाएगा। रसोईघर में खाना खत्म हो रहा है, और नौकरों ने अभी तक कुछ खाया नहीं है। असल में नौकरों ने बहुत पहले खाना छोड़ दिया है।

भारत गाँवों में जीता है, यह हर पाखंडपूर्ण सार्वजनिक भाषण में हमें बताया जाता है। यह बकवास है। सरकार की फूली हुई आलमारी से निकला हुआ झूठ का एक और टुकड़ा। भारत अपने गाँवों में जीता नहीं है। भारत अपने गाँवों में मरता है। भारत को अपने गाँवों में ठोकर मारी

जाती है। भारत अपने शहरों में बसता है। भारत के गाँव बस अपने शहरों की खिदमत के लिए होते हैं। उसके ग्रामीण उसके शहरियों के गुलाम हैं, और इस वजह से उन्हें हर हाल में काबू में और जिंदा रखा जाना चाहिए, लेकिन इससे ज्यादा कुछ नहीं।

महज अपनी समस्याओं के दबाव और आयतन से लड़ते हुए एक राज्य की यह जो छवि हमने बनाई है, यह खतरनाक है। सच्चाई यह है कि यह राज्य ही समस्याएँ खड़ी कर रहा है। यह गरीबी का उत्पादन करने वाली एक दानवाकार मशीन है, गरीबों को बहुत गरीबों के विरुद्ध झोंक देने और अभागों की ओर रोटियों के टुकड़े फेंकने में माहिर, ताकि वे अपनी ताकत एक-दूसरे से लड़ने में बिखेर दें और मालिकों की बस्ती में शांति बनी रहे।

जब तक इस प्रक्रिया को इसके लक्ष्यों के साथ पहचाना नहीं जाता, जब तक इससे मुखातिब होने और इस पर हमला करने की सूरत नहीं बनती, तब तक चुनाव--चाहे वे कितने भी तीखेपन से लड़े जाते हों—नौटंकी बने रहेंगे जो इन दरारों को और ज्यादा बढ़ाएँगे। प्रजातंत्र (इसका हमारा संस्करण) एक परोपकारी मुखौटे का काम करता रहेगा जिसके पीछे एक महामारी बेखटके फलती-फूलती रहेगी। उस स्तर पर, जिसमें पुराने युद्ध और अतीत के दुर्भाग्य प्रयोगशाला में नियंत्रित प्रयोगों की तरह लगेंगे। अभी ही पाँच करोड़ लोग विकास की मिल में झोंक दिए गए हैं और वे एयर-कंडीशनर और पॉपकॉर्न और रेऑन सूट बनकर निकले हैं—सब्सिडी में मिलने वाले एयर-कंडीशनर और पॉपकॉर्न और रेऑन सूट—अगर हमें ये अच्छी चीजें चाहिए और वे निस्संदेह अच्छी हैं, तो कम से कम उसकी कीमत हमसे ही वसूल की जानी चाहिए।

झंडे में एक खरोंच है जिसे रफू किए जाने की जरूरत है।

दुखद है कि यह कहना पड़े, लेकिन जब तक हमें भरोसा है—हमारे लिए कोई उम्मीद नहीं है। उम्मीद करने के लिए हमें यह भरोसा तोड़ना होगा। हमें नियत रास्तों से नियत युद्ध लड़ने हैं और लड़ना ही नहीं, जीतना भी है।

तो नर्मदा घाटी की कहानी सुनिए। इसे समझिए और अगर आप चाहें

तो इससे आकर जुड़िए। कौन जाने, इसी से कोई जादू हो जाए।

नर्मदा मध्य प्रदेश के शहडौल जिले में अमरकंटक के पठार पर उमड़ती है, फिर सुंदर पर्णपाती जंगलों और शायद भारत के सबसे उपजाऊ खेतीहर इलाके से गुजरती हुई 1300 किलोमीटर का रास्ता तय करती है। इस नदी-घाटी में इसके पारिस्थितिकीय तंत्र से, और परस्पर निर्भरता (और निस्संदेह शोषण) के जटिल प्राचीन सूत्रों में एक-दूसरे से बँधे ढाई करोड़ लोग बसते हैं। हालाँकि पचास साल से ऊपर हो गए जब नर्मदा को 'जल-संसाधन विकास' के लिए लक्षित कर लिया गया था, लेकिन हाल-हाल तक यह बाँधे और टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटे जाने से बची रही तो इसकी वजह यह थी कि यह तीन राज्यों—मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात से होकर बहती है। (नब्बे फीसदी से ज्यादा नदी मध्य प्रदेश से होकर बहती है; यह महाराष्ट्र की उत्तरी सीमाओं का स्पर्श भर करती है, और फिर गुजरात में लगभग 180 किलोमीटर तक बहने के बाद भड़ूच के पास अरब सागर में विसर्जित हो जाती है।)

1946 में ही गुजरात में गोरा के पास नदी को बाँधने की योजना बन रही थी। 1961 में नेहरू ने 49.8 मीटर ऊँचे एक बाँध का शिलान्यास भी किया—यह सरदार सरोवर का छोटा-सा पुरखा था। लगभग उसी वक्त, सर्वे ऑफ इंडिया ने नदी के बेसिन के नए आधुनिकीकृत नक्शे तैयार किए। गुजरात में बाँध के योजनाकारों ने नए नक्शे का अध्ययन किया और तय किया कि एक ज्यादा बड़ा बाँध बनाना फायदेमंद होगा। लेकिन इसका अर्थ यह था कि पहले पड़ोस के राज्यों के साथ किसी समझौते तक पहुँचा जाए।

तीनों राज्य अड़ते-लड़ते रहे लेकिन पानी के बँटवारे के किसी मान्य फार्मूले तक पहुँचने में नाकाम रहे। आखिरकार, 1969 में केंद्र सरकार ने नर्मदा जल विवाद पंचाट का गठन किया। पंचाट को अपना फैसला सुनाने में दस साल लग गए। *जिन लोगों की जिंदगियाँ तबाह होने जा रही थीं, उनसे न पूछा गया, न मशविरा किया गया और न ही उन्हें इसकी सूचना दी गई।*

पानी का हिस्सा बाँटने के लिए, पंचाट का पहला बुनियादी काम यह

मालूम करना था कि नदी में कितना पानी बहता है। आमतौर पर इसका सही-सही अनुमान तभी लगाया जा सकता है जब नदी में वास्तविक बहाव की मात्रा का कम से कम पिछले चालीस सालों का अधिकृत ब्योरा उपलब्ध हो। चूँकि यह ब्यौरा उपलब्ध नहीं था इसलिए उन्होंने बारिश के आँकड़ों से इसका हिसाब लगाने का फैसला किया। उनके हिसाब से 27.22 एम.ए.एफ. (मिलियन एकड़ फीट) का आँकड़ा आया।[24] यही आँकड़ा नर्मदा घाटी परियोजना का दृढ़ सांख्यिकीय आधार है। हम अभी तक इसी की विरासत के साथ रह रहे हैं। कमोबेश इसी से परियोजनाओं की पूरी रूपरेखा–बाँधों की ऊँचाई, अवस्थिति और संख्या–निर्धारित होती है। अनुमान से, इसी से यह निर्धारित होता है कि परियोजनाओं की लागत कितनी होगी, कितना इलाका डूब जाएगा, कितने लोग विस्थापित होंगे और क्या-क्या लाभ हासिल होंगे। 1992 में नर्मदा में बहाव का वास्तविक तौर पर जाँचा हुआ यह आँकड़ा, जो अब चौवालीस सालों (1948-92) तक उपलब्ध था, बता रहा था कि नदी में जल की मात्रा महज 22.69 एम.ए.एफ., यानी 18 फीसदी कम है ![25] केंद्रीय जल आयोग स्वीकार करता है कि पहले जितना अनुमान लगाया गया था, नर्मदा में उससे कहीं कम पानी है।[26] भारत सरकार कहती है :

"यह ध्यान रखा जाए कि 28 एम.ए.एफ. के अनुमानित बहाव के निर्धारण से संबद्ध उपबंध II (पंचाट के फैसले का) अपुनरीक्षणीय है (!)[27]

आँकड़ा अपनी जगह है। दूसरे शब्दों में इनसानी फैसले से कानूनी तौर पर बँधी हुई नर्मदा को उतना जल उत्पन्न करना है जितना भारत सरकार का आदेश है।

इसके प्रस्तावक बताते हैं कि नर्मदा घाटी परियोजना मानव इतिहास में अब तक अभिकल्पित सबसे महत्त्वाकांक्षी परियोजना है। उनकी योजना 3200 बाँध बनाने की है जिससे नर्मदा और उसकी 41 सहायक नदियों की एक विशाल सीढ़ीनुमा संरचना में पुनर्रचना हो जाएगी–काम योग्य पानी का एक विशालकाय जीना। इनमें से तीस बड़े बाँध होंगे, 135 मँझोले और बाकी छोटे बाँध होंगे। बड़े बाँधों में दो बहुउद्देश्यीय विशालकाय बाँध होंगे। गुजरात में सरदार सरोवर और मध्य प्रदेश में नर्मदा सागर के

बीच भारतीय उपमहाद्वीप के किसी भी जलाशय से ज्यादा पानी जमा होगा।

चाहे जिस भी तरह आप इसे देखें, नर्मदा घाटी विकास परियोजना महाकाय है। यह भारत की सबसे बड़ी नदियों में से एक की समूची नदी-घाटी की पारिस्थितिकी को बदल देगी। अच्छा या बुरा, इससे ढाई करोड़ लोगों की जिंदगियों पर असर पड़ेगा जो घाटी में रहते हैं। यह 4000 वर्ग किलोमीटर के प्राकृतिक पर्णपाती जंगल को डुबोकर नष्ट कर देगी।[28] तब भी, परियोजना को पर्यावरण मंत्रालय की हरी झंडी मिलने से पहले ही विश्व बैंक ने इसके सबसे महत्त्वपूर्ण अंग को पैसा देने की पेशकश कर दी—सरदार सरोवर को, जिसका जलाशय मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में लोगों को विस्थापित करेगा, मगर जिसके फायदे गुजरात को जाएँगे। लागत का आकलन होने के भी पहले, कोई अध्ययन होने के पहले, और इसके पहले कि किसी को अंदाजा हो कि बाँध की इंसानी कीमत या उसका पर्यावरणीय असर क्या होगा, विश्व बैंक अपनी चेकबुक लेकर तैयार था।

1985 में ही सरदार सरोवर के लिए 45 करोड़ डॉलर का कर्ज मंजूर किया गया। परियोजना के लिए पर्यावरण मंत्रालय की मंजूरी 1987 में आई ! जोशो-खरोश देखिए। **जैसे यह धर्म-प्रचार का काम हो।**

वे इतनी दिलचस्पी क्यों दिखा रहे थे ?

1947 से 1994 के बीच विश्व बैंक के पास सारी दुनिया से कर्ज के 6000 आवेदन आए। उन्होंने एक को भी नामंजूर नहीं किया। एक को भी नहीं। 'गतिशील मुद्रा' और 'ऋण-लक्ष्यों तक पहुँचना' जैसे शब्दों के अर्थ इन्हीं दिनों खुलने लगे।

भारत आज एक ऐसी स्थिति में है कि यह बैंक से जितना कर्ज लेता है, उससे कहीं ज्यादा उसके ब्याज और किस्तों के भुगतान में चुकाता है। अपने पुराने कर्जों की अदायगी कर सकने के लिए हम नए कर्ज लेने को मजबूर हैं। विश्व बैंक की वार्षिक रपट के मुताबिक, बीते साल (1998), हिसाब लगाने के बाद, भारत ने जितना कर्ज हासिल किया, उससे 47.8 करोड़ डॉलर ज्यादा विश्व बैंक को चुकाए। पिछले पाँच सालों में

(1993-98) भारत ने विश्व बैंक से जितना हासिल किया है, उससे 1.475 अरब डॉलर ज्यादा उसे दे चुका है।[29]

हमारे बीच का रिश्ता ठीक वैसा ही है जैसा कर्ज में डूबे एक भूमिहीन मजदूर और स्थानीय साहूकार के बीच होता है—यह एक मधुर रिश्ता होता है। गरीब आदमी अपने साहूकार को पसंद करता है क्योंकि अक्सर उसकी जरूरत के वक्त वह तैयार रहता है। यह यों ही नहीं है कि हम दुनिया को खगोलीकृत गाँव कहते हैं। भूमिहीन मजदूर और भारत सरकार के बीच फर्क सिर्फ यही है कि एक बचे रहने के लिए पैसे का इस्तेमाल करता है, दूसरा इसे अपने अफसरों और दलालों की निजी जेब में भरता हुआ, देश को ऐसी आर्थिक दासता की ओर धकेलता चलता है जिससे वह कभी उबर न सके।

अंतरराष्ट्रीय बाँध उद्योग सालाना बीस अरब डॉलर के आसपास का है।[30] अगर आप सारी दुनिया में बड़े बाँधों के सिलसिले को देखें—कहीं भी आप जाएँ—चीन, जापान, मलेशिया, थाईलैंड, ब्राजील, ग्वाटेमाला—हर जगह वही कहानी आपके सामने होगी, उन्हीं नायकों से आपकी मुठभेड़ होगी : लौह-त्रिभुज (राजनीतिज्ञों, अफसरशाहों और बाँध-निर्माता कंपनियों के बीच के गठजोड़ के लिए बाँध की दुनिया का मुहावरा), 'रैकेटीयर्स', जो खुद को अंतरराष्ट्रीय पर्यावरण सलाहकार बताते हैं (जो सीधे बाँध निर्माताओं या उनके सहायकों द्वारा बहाल किए जाते हैं), और हर जगह हाजिर, बगल का साथी विश्व बैंक। आप हर जगह उसी आभामंडित शब्दांडबर को, उसी जनता के बाँध वाले नारे को, उसी चुस्त-क्रूर दमन को पहचानते चलेंगे जो नागरिक अवज्ञा के पहले निशान के साथ शुरू हो जाता है। बाद में, खासकर नर्मदा के अपने अनुभव के बाद विश्व बैंक उन देशों के चयन में ज्यादा सतर्क हो गया है जहाँ उसे ऐसी परियोजनाओं को पैसा देना है जिनसे व्यापक विस्थापन होता हो। वर्तमान में, चीन उनका सबसे पसंदीदा ग्राहक है। यह हमारे समय की एक बड़ी विडंबना है—अमेरिकी नागरिक थ्येन आनमन चौक पर हुए कत्लेआम का विरोध करते हैं, लेकिन बैंक ने उस थ्री जॉर्जस बाँध पर अध्ययन को वित्तीय मदद देने के लिए अपने पैसे का इस्तेमाल किया है जो तेरह लाख लोगों को

विस्थापित करने जा रहा है। आज की तारीख में विश्व बैंक चीन में बड़े बाँधों का सबसे बड़ा विदेशी वित्त-प्रबंधक है।[31]

यह एक चतुराई भरा सर्कस है जिसमें नट एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचानते हैं। बीच-बीच में वे भूमिकाओं की अदला-बदली कर लेंगे—कोई अफसरशाह बैंक में नियुक्त हो जाएगा, कोई बैंक परियोजना-सलाहकार के साथ नजर आएगा। नाटक के अंत में, जिसे 'विकास-अनुदान' कहते हैं, उसका अच्छा-खासा प्रतिशत उपकरणों की कीमत या सलाहकारों के शुल्क या एजेंसियों के अमले के वेतन के रंग-बिरंगे छद्म रूपों में उन्हीं देशों में वापस चला जाता है, जहाँ से वह आता है। अक्सर अनुदान खुले तौर पर शर्तों से बँधे होते हैं (जैसे सरदार सरोवर बाँध के लिए जापानी कर्ज के मामले में, सुमिटोमो कारपोरेशन से टरबाइन खरीदने की शर्त बँधी हुई थी।)[32] कभी-कभी अंतर्संबंध और झीने या फूहड़ होते हैं। 1993 में ब्रिटेन ने मलेशिया के परगाऊ बाँध के लिए 23.4 करोड़ पौंड का कर्ज दिया, बावजूद इसके कि उन्हीं की ओवरसीज डेवलपमेंट ऐडमिनिस्ट्रेशन की रपट के मुताबिक यह बाँध मलेशिया के लिए एक 'बुरा सौदा' होगा। यह बाद में उभरकर आया कि कर्ज की पेशकश मलेशिया को 1.3 अरब पौंड के ब्रिटिश हथियार खरीदने के लिए 'प्रोत्साहित' करने के लिए की गई थी।[33]

1994 में ब्रिटिश सलाहकारों ने दूसरे देशों में अनुबंधों के जरिए ढाई अरब डॉलर कमाए।[34] परियोजना-प्रबंधन के बाद बाजार का दूसरा सबसे बड़ा क्षेत्र उस तरह के लेखन हैं जिन्हें ईआईए'ज़ (एनवायरनमेंटल इम्पैक्ट असेसमेंट) यानी पर्यावरण-प्रभाव आकलन कहा जाता है। विकास के 'रैकेट' में नियम बेहद सरल हैं। अगर आपको किसी सरकार की ओर से पर्यावरण-प्रभाव आकलन लिखने के लिए आमंत्रित किया जाता है और आप एक समस्या की ओर इशारा करते हैं (कहें, आप किसी नदी में उपलब्ध पानी की मात्रा को लेकर जिरह करते हैं, या तौबा खुदा, आपकी राय में इसकी इंसानी कीमत शायद खूब ऊँची है) तो आप गायब हो जाएँगे। आप एक ओ.ओ.डब्ल्यू.सी. हैं। आउट ऑफ वर्क कंसल्टेंट। बेरोजगार सलाहकार। **और अरे !** आपकी रेंज रोवर गई। टस्कैनी में बिताई

जाने वाली आपकी छुट्टियाँ गईं। आपके बच्चों के प्राइवेट बोर्डिंग स्कूल गए। गरीबी में अच्छा पैसा है। और ढेर सारी सुविधाएँ।

बड़े बाँधों की परंपरा को बनाए रखते हुए 138.68 मीटर ऊँचे सरदार सरोवर बाँध के निर्माण में भी, परियोजना की वास्तविक लागत का और पर्यावरण और लोगों पर इसके असर का अध्ययन कराने का सरकारी नाटक शुरू हो गया। विश्व बैंक भी तहे-दिल से इस खेल में शामिल हो गया—बीच-बीच में यह अपनी भौंहें तरेरता था और उन लोगों के विस्थापन और पुनर्वास जैसे मुद्दों पर और ज्यादा सूचनाएँ मुहैया कराने का कातर• अनुरोध करता था जिन्हें वह पी.ए.पी.—प्रोजेक्ट अफेक्टेड पर्सन—यानी परियोजना-प्रभावित लोग बोलता है। (इनसे मदद मिलती है, इन संकेतनामों से, ये रक्त और मांस को ठंडे आँकड़ों में बदलने में कामयाब रहते हैं। 'पैप्स' यानी परियोजना-प्रभावित लोग धीरे-धीरे 'लोग' नहीं रह जाते हैं।)

महज टुकड़ा-टुकड़ा कुछ जानकारियों से संतुष्ट होकर विश्व बैंक ने परियोजना पर क़दम बढ़ा दिए। सभी संबद्ध पक्षों में यह अनकही, अलिखित, मगर बहुत साफ समझ बन गई थी कि चाहे जो भी कीमत चुकानी पड़े—आर्थिक, पर्यावरणीय या मानवीय—परियोजना का काम रुकेगा नहीं। इस पर काम करते हुए वे इसे सही ठहराएँगे। उन्हें अच्छी तरह पता था कि आखिरकार किसी भी अदालत में या समिति के सामने किसी भी तर्क की तुलना में एक निबटा दिया गया काम ज्यादा बेहतर दलील है ! *'मी लॉर्ड, देरी की वजह से देश को हर रोज दो करोड़ का नुकसान हो रहा है।'*

सरकार सरदार सरोवर परियोजना को भारत की सर्वाधिक अध्ययन के बाद तैयार परियोजना बताती है, फिर भी यह खेल कुछ इस तरह चल रहा है : जब पंचाट ने पहली बार अपने फैसले का ऐलान किया और गुजरात सरकार ने अपनी योजना घोषित की कि किस तरह वह अपने हिस्से के पानी का इस्तेमाल करेगी, तो उसमें गुजरात के बंजर इलाकों, सौराष्ट्र और कच्छ के गाँवों के लिए पीने के पानी का उल्लेख तक नहीं था।

जब परियोजना के सामने राजनैतिक संकट खड़ा हो गया तो अचानक सरकार को प्यास की भावनात्मक ताकत का अहसास हुआ। अचानक

कच्छ और सौराष्ट्र के सूखे हुए गालों की प्यास बुझाना सरदार सरोवर परियोजना का अकेला लक्ष्य हो गया। (क्या हुआ अगर दो नदियों—साबरमती और माही, जो नर्मदा की तुलना में कच्छ और सौराष्ट्र से मीलों नजदीक हैं—के पानी को बाँध के जरिए अहमदाबाद, मेहसाना और खेड़ा की तरफ मोड़ दिया गया है। न तो कच्छ को और न ही सौराष्ट्र को इसकी एक बूँद भी देखने का सौभाग्य मिला है।) सरकारी तौर पर सरदार सरोवर की नहर से जिन लोगों को पीने का पानी मुहैया कराया जाएगा उनकी तादाद 2.8 करोड़ (1983) से 3.25 करोड़ (1989)—बारीकी देखिए, दशमलव तक का हिसाब !—फिर चार करोड़ (1992) और गिरकर 2.5 करोड़ (1993) तक घटती-बढ़ती रही है।[35]

पीने का पानी प्राप्त करने वाले गाँवों की संख्या 1979 में शून्य, अस्सी के शुरुआती वर्षों में 4719, 1990 में 7234 और 1991 में 8215 थी।[36] जब इसे चुनौती दी गई तो सरकार ने कबूल किया कि 1991 के आँकड़ों में 236 वीरान गाँवों को गलती से शामिल किया गया है।[37]

परियोजना के हर पहलू को लगभग इसी खिलंदड़े ढंग से छुआ गया है, जैसे कि यह घर में बैठकर खेलने वाला कोई खेल हो। तब भी, जब इससे बहुत बड़ी तादाद में लोगों की जिंदगी और उनके भविष्य का वास्ता है।

1979 में जिन परिवारों को सरदार सरोवर जलाशय की वजह से विस्थापित होना था उनकी संख्या छह हजार से कुछ ऊपर अनुमानित की गई थी। 1987 में यह बढ़कर 12,000 हो गई। 1991 में यह 27,000 पर जा चढ़ी। 1992 में सरकार ने माना कि 40,000 परिवार प्रभावित होंगे। आज सरकारी आँकड़ा 40,000 से 41,500 के बीच झूल रहा है।[38] (हाँ, तिस पर भी यह एक बेतुकी संख्या है क्योंकि लोग सिर्फ जलाशय के चलते ही विस्थापित नहीं होते। नर्मदा बचाओ आंदोलन के मुताबिक वास्तविक संख्या 85,000 परिवार है—यानी कि पाँच लाख लोग।)

परियोजना की अनुमानित लागत 5,000 करोड़[39] से उछलकर 20,000 करोड़ (सरकारी तौर पर) पहुँच गई है। नर्मदा बचाओ आंदोलन का कहना

है कि यह 44,000 करोड़ तक जाएगी।[40]

सरकार का दावा है कि सरदार सरोवर परियोजना से 1450 मेगावॉट बिजली पैदा होगी।[41] सरदार सरोवर जैसे बहुउद्देश्यीय बाँधों के साथ एक बात यह होती है कि उनके 'लक्ष्य' (सिंचाई, बिजली उत्पादन और बाढ़ नियंत्रण) आपस में टकराते हैं। सिंचाई में उस पानी का इस्तेमाल हो जाता है जिसकी आपको बिजली उत्पादन में जरूरत होती है। बाढ़-नियंत्रण के लिए जरूरी होता है कि आप मानसून के महीनों में पानी की संभावित अधिकता से निबटने के लिए जलाशय खाली रखें। और अगर अतिरिक्त पानी नहीं आता है तो आपके पास खाली जलाशय ही रह जाते हैं और इससे सिंचाई का मकसद मारा जाता है, जो मानसून के पानी को जमा रखता है। यह एक लोमड़ी, एक मुर्गी और अनाज के एक बोरे के साथ नदी को पार करने की कोशिश करने वाली पहेली जैसा है। अध्ययन बताते हैं कि इन परस्पर टकराते लक्ष्यों का नतीजा यह होगा कि जब यह परियोजना पूरी हो जाएगी और पूरी तरह काम करना शुरू कर देगी तब यह अपने योजनाकारों के दावे की महज तीन फीसदी बिजली पैदा करेगी। करीब 50 मेगावॉट। और, नहरों के इस विशाल संजाल में पानी को पंप करने के लिए जितनी बिजली चाहिए, उसका हिसाब लगाया जाए तो सरदार सरोवर परियोजना से जितनी बिजली बनेगी, उससे कहीं ज्यादा उस पर खर्च हो जाएगी ![42]

एक पुराने युद्ध में हर किसी को अपना हिसाब चुकाना है। इसलिए इन दावों-प्रतिदावों के बीच अपना रास्ता आप कैसे चुनें ? कैसे तय करें कि किसका अनुभान ज्यादा विश्वसनीय है ? एक रास्ता यह है कि भारतीय बाँधों के सिलसिले का जायजा लिया जाए।

जबलपुर के करीब बरगी बाँध नर्मदा पर पूरा होने वाला पहला बाँध (1990) था। इसकी लागत अपने बजट से दस गुना ज्यादा पड़ी और इंजीनियरों ने जितना बताया था, उससे तीन गुना ज्यादा जमीन इसमें डूबी। 101 गाँवों के लगभग 70,000 लोगों के विस्थापित होने का अनुमान था, मगर जब उन्होंने (बिना किसी चेतावनी के) पानी भरा, 162 गाँव डूब गए। सरकार द्वारा बनाए गए कुछ पुनर्वास स्थल भी डूब गए।

06955

COMMUNITY HEALTH CELL LIBRARY AND DOCUMENTATION
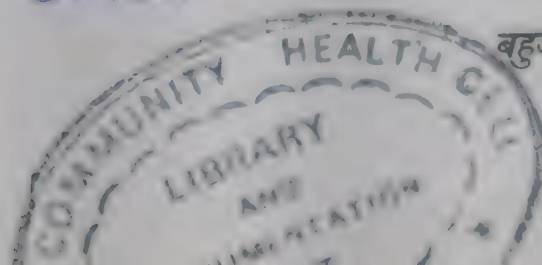
लोग जिस जमीन पर सदियों से रहते आए थे, वहाँ से चूहों की तरह खदेड़े गए। वे जो बचा सकते थे, उन्होंने बचा लिया, और अपने घरों को बहता देखते रहे। 1,14,000 लोग विस्थापित हो गए।[43]

पुनर्वास की कोई नीति नहीं थी। कुछ को थोड़ा-सा नगद मुआवजा दे दिया गया। कुछ को सरकारी पुनर्वास स्थलों में ले जाया गया। गोरखपुर में यह जगह, सरकारी प्रचार के मुताबिक 'आदर्श गाँव' है। 1990 से 1992 के बीच यहाँ पाँच लोग भुखमरी के शिकार होकर मर गए। बाकी या तो लौटकर बाँध के नजदीक के जंगलों में नाजायज तौर पर रहने लगे या जबलपुर की झोंपड़-पट्टियों में बस गए।

खास बात यह कि बरगी बाँध से उतने ही बड़े इलाके में सिंचाई होती है जितना इसमें पहले डूब चुका है—*और इसके योजनाकारों ने जितनी जमीन पर सिंचाई का दावा किया था, उसका यह महज पाँच प्रतिशत है।*[44] वह भी जल-जमाव का शिकार है।

बार-बार, यह एक ही कहानी है। आंध्र प्रदेश सिंचाई-II योजना का दावा था कि इससे 63,000 लोग विस्थापित होंगे। जब यह पूरी हुई, विस्थापित होने वालों की संख्या 1,50,000 हो गई।[45] गुजरात मध्यम सिंचाई परियोजना से 63,000 लोगों की जगह 1,40,000 लोग विस्थापित हुए।[46] कर्नाटक में ऊपरी कृष्णा सिंचाई परियोजना द्वारा महज 20,000 लोगों को विस्थापित करने के प्रारंभिक दावे की जगह अब संशोधित अनुमान 2,40,000 लोगों के विस्थापन का है।[47] ये विश्व बैंक के आँकड़े हैं, नर्मदा बचाओ आंदोलन के नहीं। कल्पना कीजिए कि हमारे 3.3 करोड़ लोगों के भीरू अनुमान का क्या हश्र होगा।

सरदार सरोवर बाँध स्थल पर निर्माण कार्य, जो छिटपुट ढंग से 1961 से ही जारी था, 1988 में गंभीरता से शुरू हो गया। उस वक्त तक किसी को मालूम नहीं था, न विश्व बैंक को, न सरकार को, कि मेधा पाटकर नाम की एक औरत डूब के लिए निर्धारित गाँवों में भटक रही है, लोगों से पूछ रही है कि क्या उन्हें पता है कि सरकार उनके साथ क्या करने का इरादा रखती है। जब वह घाटी में आई थी तो बाँध के निर्माण का विरोध उसके लिए एक बहुत दूर का खयाल था। उसका मुख्य सरोकार

यह था कि विस्थापित गाँव वालों को न्यायिक, मानवीय ढंग से बसाया जाना चाहिए। यह धीरे-धीरे उसके सामने स्पष्ट होता गया कि उनके प्रति सरकार का इरादा कतई सम्मानजनक नहीं है। 1986 तक बात पसर चुकी थी और हर राज्य का अपना जनसंगठन तैयार हो चुका था जो विस्थापन और पुनर्वास के उन वायदों पर सवाल उठा रहा था जो सरकारी अधिकारियों द्वारा उछाले जा रहे थे। यह कुछ सालों बाद ही हुआ कि दहशत–जिन लोगों को विस्थापित होना है और जिन्हें इसका लाभ मिलने की उम्मीद है, उन दोनों पर बाँध के असर की–अपने चरम पर पहुँच कर आकार लेने लगी। नर्मदा घाटी विकास परियोजना को देश का सर्वाधिक सुनियोजित पर्यावरणीय विनाश माना जाने लगा। अलग-अलग जनसंगठनों ने मिलकर एक अकेला संगठन बनाया और नर्मदा बचाओ आंदोलन–बेमिसाल एनबीए–का जन्म हुआ।

1988 में, नर्मदा बचाओ आंदोलन ने नर्मदा घाटी विकास परियोजना के सभी काम रोके जाने का औपचारिक आह्वान किया। लोगों ने ऐलान किया कि अगर डूबना पड़े तो वे डूब जाएँगे, मगर अपने घरों से हिलेंगे नहीं। दो साल के भीतर संघर्ष खिल चुका था और उसे दूसरे प्रतिरोधी आंदोलनों का समर्थन मिल रहा था। सितंबर, 1989 में भारत-भर से 50,000 लोगों ने घाटी में इकट्ठा होकर इस विनाशकारी विकास से लड़ने की शपथ ली। बाँध-स्थल और उससे सटे हुए इलाकों पर, जो पहले ही सरकारी गोपनीयता कानून के तहत आते थे, धारा 144 थोप दी गई जो पाँच से ज्यादा लोगों के एक साथ इकट्ठा होने पर प्रतिबंध लगाती है। समूचा इलाका पुलिस छावनी में बदल दिया गया।

प्रतिरोधों के बावजूद, एक साल बाद, 28 सितंबर, 1990 को हजारों गाँव वाले पैदल चलकर और नावों के जरिए मध्य प्रदेश के एक छोटे-से शहर बड़वानी में इकट्ठा हुए और उन्होंने घर से निकलने पर राजी होने की जगह डूब जाने की कसम दुहराई। लोगों द्वारा परियोजना के विरोध की खबर दूसरे देशों में भी पसर गई। फ्रेंड्स ऑफ अर्थ की जापानी शाखा ने जापान में एक अभियान चलाया जिसे जापानी सरकार द्वारा सरदार सरोवर परियोजना को वित्तीय मदद के तहत दिया जा रहा 27 अरब येन

का कर्ज वापस करवाने में कामयाबी हासिल हुई। (टरबाइनों का ठेका अभी भी बना हुआ है।) एक बार जहाँ जापानियों ने कदम खींचे, दुनिया-भर के पर्यावरणवादी संगठनों की ओर से, जो इस संघर्ष का समर्थन करते थे, विश्व बैंक पर अंतरराष्ट्रीय दबाव पड़ना शुरू हो गया।

निश्चय ही इससे घाटी में होने वाला दमन भी बढ़ा। सरकारी नीति, एक बड़बोले मंत्री के शब्दों में घाटी को खाकी वर्दी से भर देने की थी। 1990 में क्रिसमस के दिन 6000 मर्द और औरतें अपने खाने-पीने के सामान और बोरिया-बिस्तर सहित सौ किलोमीटर की यात्रा तय करके आए और उनके साथ एक सात सदस्यीय बलिदानी जत्था भी था जिसने नदी के लिए अपने प्राण अर्पित करने की शपथ ली हुई थी। उन्हें गुजरात की सरहद पर स्थित फेरकुआँ के पास हथियारबंद पुलिस बटालियन और बड़ौदा शहर से आए लोगों की भीड़ द्वारा रोक लिया गया, जिनमें से बहुत सारे भाड़े पर लाए गए थे। कुछ को वाकई यकीन था कि सरदार सरोवर 'गुजरात की जीवन रेखा' है। यह एक उल्लेखनीय टकराव था। मध्यवर्गीय शहरी भारत बनाम ग्रामीण, मुख्यतया आदिवासी टुकड़ी। आंदोलनकारी लोगों ने माँग की कि उन्हें सरहद पार करके बाँध-स्थल पर जाने की इजाजत दी जाए। पुलिस ने उन्हें रास्ता देने से इनकार किया। अहिंसा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताते हुए हरेक गाँव वाले ने अपने हाथ बाँध लिये। एक-एक करके वे पुलिस बटालियन को चुनौती दे रहे थे। उन्हें पीटा गया, गिरफ्तार किया गया और खींचकर ट्रकों में ले जाया गया और कुछ मील दूर ले जाकर सुनसान में छोड़ दिया गया। वे फिर वापस आ गए और फिर सब कुछ शुरू हो गया।

यह स्थिति लगभग दो हफ्ते तक बनी रही। आखिरकार सात जनवरी, 1991 को बलिदानी जत्थे के सातों सदस्यों ने ऐलान किया कि वे अनियतकालीन भूख हड़ताल पर जा रहे हैं। तनाव संगीन हदों तक पहुँच गया। भारतीय और अंतरराष्ट्रीय प्रेस, टी.वी. कैमरा टीम और डॉक्यूमेंटरी बनाने वाले—सभी वहाँ मौजूद थे। लगभग हर रोज अखबारों में खबरें आ रही थीं। वाशिंगटन में भी पर्यावरणवादियों ने दबाव बढ़ा दिया। आखिरकार, प्रतिकूल मीडिया की कोपदृष्टि से बुरी तरह घबराए हुए विश्व बैंक ने

ऐलान किया कि वह सरदार सरोवर परियोजना की एक स्वतंत्र समीक्षा करवाएगा—बैंक-बर्ताव के इतिहास में यह अभूतपूर्व था।

जब यह खबर घाटी में पहुँची तो इसे अविश्वास और संदेह के साथ लिया गया। लोगों के पास विश्व बैंक पर भरोसा करने की कोई वजह नहीं थी, मगर फिर भी, यह एक तरह की जीत थी। अपने उन साथियों की बिगड़ती हुई हालत से स्वाभाविक तौर पर परेशान, जिन्होंने बाईस दिनों से कुछ खाया नहीं था, गाँव वालों ने उनसे उपवास तोड़ने का आग्रह किया। 28 जनवरी को फेरकुआँ में उपवास तोड़ा गया और बहादुर अनगढ़ सेना यह नारा लगाती घर पहुँची, "आम्रा गाँव में आम्रो राज।"

इस तरह की फौज दुनिया के किसी हिस्से में नहीं रही है। दूसरे देशों—चीन (चेयरमैन माओ को अपने 77वें जन्मदिन पर सौगात में एक बड़ा बाँध मिला), मलेशिया, ग्वाटेमाला, परागुवे—में विद्रोह का हर चिह्न शुरू होने के पहले ही कुचल दिया जाता है। यहाँ भारत में यह जारी रहता है। वाकई राज्य इसका भी श्रेय लेना चाहेगा। वह चाहेगा कि हम उसके कृतज्ञ हों कि उसने आंदोलन को पूरी तरह नहीं कुचल डाला, उसे जिंदा रहने की इजाजत दी। अंततः यह क्या है ? अगर स्वस्थ ढंग से कार्यरत लोकतंत्र का संकेत नहीं है जिसमें राज्य को तब दखल देने की नौबत आती है जब इसके लोगों में मतभेद होता है ? हो सकता है, देखने का एक यह तरीका हो। (क्या यह संकेत है कि मैं दाँत निपोरूँगी और कहूँगी, "शुक्रिया-शुक्रिया, जो मैं लिखना चाहती हूँ; उसे लिखने देने का शुक्रिया ?")

हमें राज्य का शुक्रगुजार होने की कोई जरूरत नहीं कि उसने हमें विरोध करने की इजाजत दी। हम उसके लिए खुद को शुक्रिया अदा कर सकते हैं। यह हम हैं जो इन अधिकारों पर जोर देते रहे हैं। यह हम ही हैं जिन्होंने इन्हें छोड़ने से इनकार किया है। अगर जनता के रूप में हमारे पास गर्व करने के लिए सचमुच कुछ है तो यही है। राज्य के 'बावजूद' नर्मदा घाटी का संघर्ष जिंदा है।

भारतीय राज्य धूर्तता के साथ लड़ाई लड़ता है। अपनी ऊपरी शराफत से अलग इसका दूसरा बड़ा हथियार इंतजार करने की इसकी सामर्थ्य है। लड़ाई को खींचते रहने की। विरोधी को थका देने की। राज्य कभी नहीं

थकता है, कभी बुढ़ाता नहीं है, उसे कभी आराम नहीं चाहिए। यह एक अंतहीन दौड़ दौड़ता रहता है।

मगर लड़ते हुए लोग थक जाते हैं। वे बीमार पड़ जाते हैं, वे बूढ़े हो जाते हैं। यहाँ तक कि जवान भी उम्र से पहले बूढ़े हो जाते हैं। लगभग बीस साल से, पंचाट के फैसले के बाद, घाटी की यह अनगढ़ सेना बेदखली के डर के साथ जीती रही है। बीस साल से ज्यादातर इलाकों में विकास के कोई चिह्न नहीं हैं—सड़क नहीं, स्कूल नहीं, कुएँ नहीं, चिकित्सा-सहायता नहीं। बीस साल से, यह 'डूब के लिए निर्धारित' का धब्बा ढो रही है—इसलिए यह बाकी समाज़ से अलग-थलग है (कोई विवाह-प्रस्ताव नहीं, कोई जमीन की खरीद-बिक्री नहीं)। वे एक हद तक जापान के हिबाकुशों (हिरोशिमा और नागासाकी की बमबारी के शिकार और उनके वंशज) जैसे हैं। 'आधुनिक विकास के फल' जब आखिरकार आए तो अपने साथ सिर्फ दहशत लाए। सड़कों से सर्वे करने वाले आए। ट्रकों में पुलिस आई। पुलिस गोलियाँ और पिटाई और बलात्कार और हिरासत, और एक मामले में कत्ल तक लाई। आधुनिक विकास का बस एक ही सच्चा फल जो उन तक पहुँचा, गलती से पहुँचा—अपनी आवाज उठाने का अधिकार, सुने जाने का अधिकार। लेकिन अब वे बीस साल लड़ चुके। कब तक टिकेंगे वे ?

घाटी में संघर्ष थक रहा है। अब यह उतना चलन में नहीं है जितना हुआ करता था। अंतरराष्ट्रीय कैमरा टीमें और रेडिकल रिपोर्टर (विश्व बैंक की ही तरह) नई चरागाहों की ओर चले गए हैं। वृत्तचित्र दिखाए जा चुके हैं और प्रशंसा पा चुके हैं। हर किसी की सहानुभूति चुक गई है। लेकिन बाँध का काम जारी है। यह ऊँचा और ऊँचा हो रहा है।...अब पहले से कहीं ज्यादा, अनगढ़ सेना को नई कुमुक चाहिए। अगर हम इसे मरने देते हैं, अगर हम संघर्ष को कुचल दिए जाने के लिए छोड़ देते हैं, अगर हम लोगों पर हो रहे अत्याचारों को अनदेखा कर देते हैं, तो हम अपनी सबसे कीमती चीज खो बैठेंगे : अपनी संवेदना, या इसका जो कुछ भी हममें बचा हुआ है।

'भारत बना रहेगा', वे आपसे कहेंगे, वे संत-दार्शनिक जो रोजमर्रा के

गंधाते मामलों में उलझने की जहमत मोल नहीं लेना चाहते। जैसे कि 'भारत' किसी रूप में अपने लोगों से ज्यादा बेशकीमती है।

पुराने नाजी संभवतः इसी तरह खुद को दिलासा दिया करते हैं।

अब बहुत देर हो चुकी है, कुछ लोग कहते हैं। परियोजना में इतना वक्त और पैसा लग चुका है कि उसे वापस लेना मुमकिन नहीं।

अभी तक सरदार सरोवर ने उसका बस एक-चौथाई इलाका ही डुबोया है जितना जब (अगर) वह अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँचेगा तब डुबोएगा। अगर हम इसे अभी रोक देते हैं, हम 3,25,000 लोगों को निश्चित बदहाली से बचाएँगे।

जहाँ तक इसका आर्थिक पक्ष है—यह सच है कि सरकार अभी ही 7,500 करोड़ रुपए खर्च कर चुकी है, मगर परियोजना को जारी रखने का मतलब और ज़्यादा पैसा झोंकना है। हम सार्वजनिक पैसे का 35,000 करोड़ रुपया बचा लेंगे, यह इस विशाल देश के हर गाँव में स्थानीय जल परियोजनाओं के निर्माण के लिए पर्याप्त होगा। संभवतः इससे ज्यादा लड़े जाने योग्य युद्ध और क्या हो सकता है ?

नर्मदा घाटी का युद्ध कोई आदिम जनजातीय या सुदूर ग्रामीण और यहाँ तक कि पूरी तरह भारतीय युद्ध भी नहीं है। यह दुनिया-भर की नदियों और पहाड़ों और जंगलों के लिए युद्ध है। सारी दुनिया से हर तरह के योद्धाओं का, जो भी इसमें अपना नाम लिखाना चाहता है, स्वागत और सम्मान होगा। हर तरह के योद्धाओं की जरूरत पड़ेगी। डॉक्टर, वकील, जज, पत्रकार, छात्र, खिलाड़ी, चित्रकार, कलाकार, गायक, प्रेमी...सरहदें खुली हुई हैं, यारो ! आ जाओ।

खैर, कहानी की ओर वापस चलें।

1991 में स्वतंत्र मूल्यांकन के चेयरमैन के तौर पर विश्व बैंक ने संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम के पूर्व प्रमुख ब्रेडफोर्ड मोर्स की नियुक्ति की। उनका काम सरदार सरोवर परियोजना का विस्तृत आकलन करना था। उन्हें परियोजना से संबद्ध सभी गोपनीय बैंक दस्तावेज मुहैया कराने की गारंटी दी गई।

मोर्स और उनकी टीम सितंबर, 1991 में भारत पहुँचे। यह मानते हुए कि यह एक और जाल है, एनबीए ने शुरू में उनसे मिलने से इनकार कर दिया। गुजरात सरकार ने पुराने दोस्तों की तरह लाल कालीन बिछाकर बाँहों में बाहें डालकर उनका स्वागत किया।

एक साल बाद ऐतिहासिक स्वतंत्र मूल्यांकन का प्रकाशन हुआ जिसे मोर्स रिपोर्ट के नाम से भी जाना जाता है।

मोर्स समिति रिपोर्ट परियोजना को बड़ी बारीकी से, तह-दर-तह, प्याज की तरह छीलती चलती है। मोर्स समिति के सदस्यों की निगाह में कुछ भी इतना बड़ा या इतना छोटा नहीं था कि उसकी जाँच न की जा सके। वे मंत्रियों और अफसरशाहों से मिले, वे इलाके में कार्यरत गैरसरकारी संगठनों से मिले, वे गाँव-गाँव एक पुनर्वास स्थल से दूसरे पुनर्वास स्थल गए। वे अच्छी जगहों पर गए। बुरी जगहों पर गए। अस्थायी स्थलों पर भी। स्थायी स्थलों पर भी। उन्होंने सैकड़ों लोगों से बात की। वे डूब और कमांड के इलाकों में बहुत गहनता से घूमते रहे। वे कच्छ और गुजरात के दूसरे सूखाग्रस्त इलाकों में गए। उन्होंने अपनी ओर से अध्ययन करवाए। उन्होंने परियोजना के हर पहलू को जाँचा-परखा : जल विज्ञान और जल-प्रबंधन, ऊपरी हिस्से का पर्यावरण, अवसादन, आवाह-क्षेत्र यानी कैचमेंट एरिया का मिजाज, निचले हिस्से का पर्यावरण, कमांड एरिया की संभावित मुश्किलों का अनुमान—जल-जमाव, गंदगी, स्वास्थ्य, वन्य जीवन पर असर।

मोर्स समिति रपट संयत, नपे-तुले लहजे में (जिसकी मैं प्रशंसा करती हूँ मगर जिसको अपना नहीं पाती) जो उजागर करती है, वह सनसनीखेज है। भारतीय राज्य और विश्व बैंक के संबंधों के बारे में यह सर्वाधिक

संतुलित, निष्पक्ष, फिर भी बेहद कड़ा आरोप-पत्र है। चुपचाप, दबे पाँव, अनायास ही यह रपट उस आलीशान कक्ष में पहुँच जाती है, जहाँ वे एक-दूसरे से प्यार कर रहे होते हैं (कथनी और करनी के बीच)।

357 पृष्ठों की रिपोर्ट की केंद्रीय सिफारिश दो टूक और पूरी तरह अप्रत्याशित थी :

> "हमारा खयाल है कि सरदार सरोवर परियोजनाएँ अभी की हालत में खामियों से भरी हैं, कि परियोजनाओं से विस्थापित होने वाले सभी लोगों का पुनर्वास और पुनर्स्थापन मौजूदा परिस्थितियों में मुमकिन नहीं है, और परियोजनाओं के पर्यावरणीय असर पर न कायदे से विचार किया गया है, न उन पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। इससे भी ज्यादा हम मानते हैं कि कर्जदार के साथ-साथ विश्व बैंक भी उस स्थिति के लिए जिम्मेदार है जो वहाँ बन गई है...यह साफ मालूम होता है कि अभियंत्रण और आर्थिक दबावों ने परियोजना को उसके मानवीय और पर्यावरणीय सरोकारों से अलग-थलग करने को विवश किया है...भारत और संबद्ध राज्य काफी पैसा खर्च कर चुके हैं। कोई नहीं चाहता कि यह पैसा बरबाद हो जाए। मगर हमारी चेतावनी है कि इनसानी और पर्यावरणीय नुकसान की पूरी जानकारी के बिना इस पर आगे काम करना और ज्यादा बरबादी हो सकती है...नतीजतन हमारे खयाल से सर्वाधिक समझदारी वाला रास्ता यह है कि बैंक इन परियोजनाओं से हाथ खींच ले और इन पर नए सिरे से विचार करे।"[48]

चार प्रतिबद्ध, जानकार, वास्तव में स्वतंत्र लोग—वे इन सैकड़ों भ्रष्ट लोगों द्वारा तोड़े गए विश्वास की बहुत हद तक भरपाई करते हैं जिन्हें यही काम करने के लिए पैसा दिया जाता है।

बहरहाल, बैंक अभी भी छोड़ देने को तैयार नहीं था। उसने परियोजना को पैसा देना जारी रखा। मोर्स रिपोर्ट के दो माह बाद उसने पामेला कॉक्स

समिति भेजी जिसने ठीक वही किया जिससे मोर्स रपट ने सावधान किया था (*"यह हमारे लिए गैर-जिम्मेदाराना होगा कि हम क्रियान्वयन पर कई तरह की सिफारिशें एक साथ नत्थी कर दें, जबकि परियोजनाओं की खामियाँ बेहद स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं"*)[49]—इसने परियोजना को उबारने के लिए कुछ जोड़-तोड़ करके रास्ता निकालने की सलाह दी। अक्तूबर, 1992 में पामेला कॉक्स समिति की सिफारिशों के आधार पर बैंक ने भारत सरकार को छह महीने के भीतर कुछ न्यूनतम प्रारंभिक शर्तें पूरी करने को कहा।[50] सरकार इतना भर भी नहीं कर सकी। आखिरकार 30 मार्च, 1993 को विश्व बैंक ने सरदार सरोवर योजना से अपने हाथ खींच लिये। (वास्तव में तकनीकी रूप से 29 मार्च को, नियत तारीख से एक दिन पहले भारत सरकार ने विश्व बैंक को वापस हो जाने के लिए कहा।)[51]

इससे पहले विश्व बैंक को किसी परियोजना से पीछे हटाने में कोई कामयाब नहीं हो सका है। जो किसी से नहीं हुआ, वह दुनिया के एक सबसे गरीब देश के सबसे गरीब लोगों की अनगढ़, सबसे नाचीज सेना ने किया। लोगों का एक समूह जो बैंक के अध्यक्ष लेविस प्रिस्टन के व्यस्त कार्यक्रमों में अपने लिए थोड़ी-सी जगह निकाल पाने में नाकाम रहा, जब वे भारत आए।[52] घाटी के लोगों के लिए बैंक की बर्खास्तगी एक बड़ी नैतिक जीत थी।

यह खुशी बहुत दिन तक नहीं टिकी। गुजरात सरकार ने ऐलान किया कि बीस करोड़ डॉलर की जो कमी हुई है, उसका इंतजाम वह खुद कर लेगी और परियोजना का काम आगे बढ़ाएगी।

मोर्स समिति रपट के दौर में, और उसके प्रकाशन के बाद भी, घाटी में लोगों और अधिकारियों के बीच टकराव कतई कम नहीं हुआ—अपमान, गिरफ्तारियाँ, लाठी-चार्ज, अस्थायी वायदों द्वारा खत्म किए जाते अनिश्चितकालीन उपवास और स्थायी दगाबाजियाँ। जो लोग गाँव छोड़ने और पुनर्वास के लिए राजी हो गए थे, अपने पुनर्वास स्थलों से अपने गाँवों में लौटना शुरू कर चुके थे। महाराष्ट्र के एक गाँव और प्रतिरोध की एक केंद्रीय जगह मणिबेली में सैकड़ों गाँव वालों ने मानसून सत्याग्रह में हिस्सा लिया। 1993 में पानी चढ़ने के बावजूद मणिबेली के परिवार अपने घरों

में बने रहे। वे अपने बच्चों को बाँहों में लिये लकड़ी के खंबों से चिपक गए और हटने से मना कर दिया। आखिरकार सिपाहियों ने जबरदस्ती उन्हें हटाया और घसीटते हुए ले गए। नर्मदा बचाओ आंदोलन ने घोषणा की कि अगर सरकार परियोजना का पुनरीक्षण कराने को राजी नहीं होती है तो 6 अगस्त, 1993 को कार्यकर्त्ताओं का एक जत्था चढ़ रहे पानी में जल-समाधि ले लेगा। पाँच अगस्त को केंद्र सरकार ने फिर से सरदार सरोवर परियोजना के पुनरीक्षण के लिए पाँच सदस्यीय समिति गठित कर दी।

गुजरात सरकार ने उन्हें गुजरात में दाखिल नहीं होने दिया।[53] पाँच सदस्यीय समिति रपट[54] (मेज रपट) एक साल बाद रखी गई। इसने मोर्स समिति रपट की ही गंभीर चिंताओं को मौन समर्थन दिया। लेकिन फर्क नहीं पड़ा। यह भी सरकार की आजमाई हुई रणनीति है। यह आपको समितियों से मार डालती है।

फरवरी, 1984 में गुजरात सरकार ने बाँध के जलकपाट हमेशा के लिए बंद करने का आदेश दिया।

मई, 1994 में नर्मदा बचाओ आंदोलन ने सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका दायर कर सरदार सरोवर बाँध की समूची बुनियाद पर सवाल उठाया और इसके निर्माण पर रोक लगाने की माँग की।[55]

उस मानसून में जब जलाशय का जल-स्तर उठा और बाँध के दूसरी तरफ टकराया, तो स्टिलिंग बेसिन से 65,000 क्यूबिक मीटर की सीमेंट और 8,35,000 क्यूबिक मीटर के पत्थर उखड़ गए और पैंसठ मीटर चौड़ा एक गड्ढा बन गया। नदी तट पर बने बिजलीघर में पानी भर गया। कई महीनों तक इस नुकसान की खबर गोपनीय रखी गई।[56] जनवरी 1995 के आसपास ही इसकी खबरें अखबारों में दिखाई पड़नी शुरू हुईं।

1995 के शुरू में इस आधार पर कि विस्थापित लोगों का पुनर्वास पर्याप्त नहीं है, सर्वोच्च न्यायालय ने अगले आदेश तक बाँध पर काम स्थगित रखने का निर्देश दिया।[57] बाँध की ऊँचाई औसत समुद्र तल से 80 मीटर थी।

इसी बीच मध्य प्रदेश में दो और बाँधों पर काम शुरू हो चुका

था—नर्मदा सागर (जिसके बिना सरदार सरोवर की 17% से 30% तक क्षमता खत्म हो जाती है[58]) और महेश्वर बाँध।

सरदार सरोवर से ऊपर की तरफ बढ़ते हुए महेश्वर कतार में अगला है। मध्य प्रदेश सरकार ने एक निजी कंपनी, भारत के प्रमुख कपड़ा उद्योगपतियों में एक, एस. कुमार्स के साथ बिजली खरीद के समझौते (पावर परचेज कांट्रैक्ट) पर दस्तखत किए हैं।

सरदार सरोवर का तनाव अस्थायी तौर पर घट गया और युद्ध ऊपर की तरफ निमाड़ के उपजाऊ मैदानों में, महेश्वर तक चला आया।

सर्वोच्च न्यायालय में लंबित पड़े मुकदमे की वजह से घाटी में दमन में साफ तौर पर कमी आई। बाँध पर निर्माण-कार्य रुक चुका था, मगर पुनर्वास की पहेली अभी जारी थी। (डूब के लिए निर्धारित) जंगलों की कटाई कर उन्हें ट्रकों से ले जाया जा रहा था और जो लोग जीवनयापन के लिए उन पर निर्भर थे, वे हटने को मजबूर थे।

हालाँकि बाँध अभी कहीं भी अपनी समाप्ति के करीब नहीं है, परियोजित ऊँचाई और नदी के किनारे रहने वाले लोगों और पर्यावरण पर उसका असर अभी भी बहुत खौफनाक है।

बाँध-स्थल के पास और आसपास के गाँवों में मलेरिया के मामलों की तादाद छह गुना बढ़ गई है।[59]

सरदार सरोवर बाँध से कुछ किलोमीटर आगे कमर तक गहरे और दो सौ मीटर से ज्यादा चौड़े, गाद के विशाल जमांव ने नदी तक पहुँचने का रास्ता बंद कर दिया है। नदी तक पहुँचने के लिए मुमकिन रास्ते की खोज में औरतों को घड़ा लिये मीलों, जी हाँ, शब्दशः मीलों चलना पड़ता है। गाय और बकरियाँ इसमें फँस जाती हैं और दम तोड़ देती हैं। आदिवासी लोगों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली लट्ठों की नावें नदी के निचले हिस्से में बनाए गए अवरोधों के चलते अनियमित और घुमावदार हो चुकी धारा में खतरनाक हो गई हैं। आगे, ऊपरी हिस्से में जहाँ गाद का जमाव अभी तक एक समस्या नहीं बना है, वहाँ की त्रासदी दूसरी है। भूमिहीन लोग (मुख्यतया आदिवासी और दलित) परंपरा से उन उपजाऊ छिछले गाद वाले किनारों पर चावल, खरबूज, खीरा और कद्दू उगाते रहे

हैं जो नदी सूखे महीनों में अपने उतार के दिनों में छोड़ जाती है। बीच-बीच में बरगी बाँध (काफी ऊपर जाकर, जबलपुर के क़रीब) के इंजीनियर जलाशय से बिना चेतावनी के पानी छोड़ देते हैं। निचले हिस्से में नदी का जल-स्तर सहसा बढ़ जाता है। इसमें कई बार सैकड़ों परिवारों की फसल बह गई है और उनके पास जीवन-यापन का कोई जरिया नहीं रह गया है।

अचानक अब वे अपनी नदी पर भरोसा करने की हालत में नहीं रहे हैं। यह एक ऐसी प्रेयसी हो गई है जिसने मनोरोग के लक्षण विकसित कर लिये हैं। जिस किसी ने भी नदी को प्यार किया है, आपको बता सकता है कि नदी का गुम होना एक खौफनाक, टीसती हुई चीज होती है। लेकिन अगर मैं इसी तरह भावुकता से लिखती रही तो मुझे झिड़की सुननी पड़ेगी। हम बहुजन हिताय की बात कर रहे हैं तो उसमें भावनाओं के लिए कोई जगह नहीं है। आपको तथ्यों की ही बात करनी होगी। मेरा दिल भटक जा रहा है, इसके लिए मुझे माफ करें।

मध्य प्रदेश और गुजरात की राज्य सरकारें विस्थापित लोगों के साथ अपने लेन-देन में अभी तक पूरी तरह लापरवाह बनी हुई हैं। गुजरात सरकार की ऐसी पुनर्वास नीति (कागजों पर) है जिसके आगे बाकी दोनों राज्य मध्ययुगीन दिखते हैं। यह नीति दुनिया का सर्वोत्तम पुनर्वास पैकेज होने का दम भरती है।[60] यह महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के बेदखल लोगों को जमीन के बदले जमीन की पेशकश करती है और 'अतिक्रमणकारियों' (आमतौर पर वे आदिवासी जिनके पास कोई कागज नहीं है) का दावा भी मान्य करती है। चालबाजी दरअसल 'परियोजना-प्रभावित' की परिभाषा में छुपी हुई है।

असलियत यह है कि गुजरात सरकार अभी तक डूब के लिए तयशुदा अपने 19 गाँवों के लोगों का पुनर्वास करने में नाकाम रही है, दूसरे दो राज्यों के 226 गाँवों की बात को छोड़ ही दें। इन 19 गाँवों के निवासी 175 अलग-अलग पुनर्वास स्थलों में छितरा दिए गए हैं। सामाजिक सूत्र हट चुके हैं, समुदाय बिखर चुके हैं।

व्यवहार में पुनर्वास कथा (कुछ 'आदर्श गाँवों' के अपवाद के साथ)

अभी तक लापरवाही और तोड़े गए वायदों की कथा ही बनी रही है। कुछ लोगों को जमीन दे दी गई है, बाकी को नहीं। कुछ को ऐसी जमीन मिली है जो बंजर और पथरीली है। कुछ को ऐसी जमीन मिली है जिनमें लाइलाज तौर पर जल-जमाव है। कुछ को इन जमीन-मालिकों ने भगा दिया है जिन्होंने सरकार को जमीन तो बेची थी, मगर जिन्हें भुगतान नहीं मिला है।[61]

कुछ को, जिन्हें दूसरे गाँवों की परिधि पर बसाया गया था, मारा-पीटा गया, लूट लिया गया और अपने मेजबान गाँव वालों द्वारा ही भगा दिया गया। ऐसे भी उदाहरण रहे हैं जब दो अलग-अलग बाँध-परियोजनाओं से विस्थापित हुए लोगों को सटी हुई जमीनें आवंटित की गई हैं। एक मामले में तीन बाँधों–उकाई बाँध, सरदार सरोवर और कर्जन बाँध–के विस्थापितों को एक ही जगह बसा दिया गया था।[62] आपस में ही संसाधनों के लिए–पानी, जमीन, चरागाह और काम के लिए–लड़ने के अलावा उन्हें भूमिहीन मजदूरों के एक समूह से भी लड़ना पड़ा जो वहाँ न रहने वाले जमीन-मालिकों के लिए अधबँटाई पर खेती कर रहे थे और मालिकों ने जमीन सरकार को बेच डाली थी।

विस्थापित लोगों का एक और वर्ग है–वे लोग जिनकी जमीन सरकार द्वारा पुनर्वास स्थल बनाने के लिए अधिग्रहीत की गई है। अभागे लोगों के बीच भी एक वर्गीकरण है–सरदार सरोवर से 'बहिष्कृत' लोग बाकी 'बहिष्कृतों' की तुलना में ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे बीच-बीच में खबरों में आते रहते हैं और उनका एक मुकदमा अदालत में चल रहा है। (दूसरी विकास परियोजनाओं में प्रेस नहीं है, नर्मदा बचाओ आंदोलन नहीं है, मुकद्मा नहीं है, दस्तावेज भी नहीं हैं। वहाँ विस्थापितों का कोई निशान बाकी नहीं है।)

कई पुनर्वास स्थलों में लोगों को टीन के शेड्स की कतार में ठूँस दिया गया है जो गर्मी में भट्ठी और जाड़े में 'फ्रिज' हो जाते हैं। कुछ को सूखी हुई नदियों के तल में बसा दिया गया है जो मानसून के दौरान तेज़ बहते नालों में बदल जाती हैं। मैं ऐसे कुछ 'स्थलों' तक गई हूँ। मैंने दूसरों द्वारा फिल्माए गए दृश्य[63] देखे हैं : चारपाई के किनारों पर चिड़ियों की तरह

दुबके, काँपते हुए बच्चे, जबकि चक्कर काटता पानी उनके टीन के घरों में घुस रहा है। डरी हुई बीमार-सी आँखें देख रही हैं कि उनके घड़े, बर्तन धारा के साथ बहकर दरवाजे से होते हुए पानी से भरे मैदानों में तिर रहे हैं, उनके दुबले-पतले पिता उनके पीछे-पीछे तैर रहे हैं ताकि जो कुछ भी बचाया जा सके, बचा लिया जाए। जब पानी घटता है तो अपने पीछे तबाही छोड़ जाता है। मलेरिया, डाइरिया, कीचड़ में फँसे बीमार मवेशी। उनके पहले वाले घरों से उखाड़े गए सागौन के पुराने खंबे, जिन्हें स्थगित स्वप्नों की तरह सावधानी से किनारे रखा गया था, अब गीले, सड़े हुए और अनुपयोगी हैं।

चालीस परिवारों को मणिबेली से महाराष्ट्र के एक पुनर्वास स्थल पर ले जाया गया था। पहले साल अड़तीस बच्चे मर गए।[64]

आज के अखबार में (इंडियन एक्सप्रेस, 26 अप्रैल '99) गुजरात के एक ही पुनर्वास-स्थल में नौ मौतों की खबर है। एक सप्ताह के दौरान। यह 1.2875 परियोजना-प्रभावित लोग प्रतिदिन हैं, अगर आप हिसाब लगा रहे हों।

बहुत सारे लोग, जिन्हें फिर से बसाया गया है, ऐसे हैं जिन्होंने सारी जिंदगी घने जंगलों में गुजारी है और जिनका पैसे से और आधुनिक दुनिया से वस्तुतः कोई वास्ता नहीं रहा। अचानक वे खुद को ऐसी स्थिति में पा रहे हैं जहाँ या तो भूख से मरने का विकल्प उनके पास है या फिर कई किलोमीटर पैदल चलकर सबसे नजदीक के शहर में पहुँचकर बाजार में बैठने और खुद को दिहाड़ी के मजदूर के रूप में इस तरह पेश करने का, जैसे बिक्री के लिए चीजें रखी होती हैं।

एक जंगल की जगह, जहाँ से वे अपनी जरूरत की हर चीज हासिल कर लेते थे—खाना, ईंधन, चारा, रस्सी, गोंद, मंजन, जड़ी-बूटियाँ, घर बनाने का सामान—अब दिन में दस से बीस रुपए कमाते हैं जिससे इन्हें अपने परिवार का भरण-पोषण करना पड़ रहा है। एक नदी की जगह उनके पास अब हैंडपंप है। अपने पुराने गाँवों में उनके पास पैसा नहीं था, मगर उनकी सुरक्षा नियत थी। अगर बारिश दगा दे जाती थी तो जंगल उनका आसरा बनता था। मछली मारने के लिए नदी थी। उनके मवेशी उनके फिक्स

डिपॉजिट थे। इन सबके बिना दरिद्रता से उनकी सांस-भर की दूरी रह गई है।

बड़ौदा के करीब वडज में, एक पुनर्वास स्थल पर जहाँ मैं गई थी, जो आदमी मुझसे बात कर रहा था वह अपने बच्चे को अपनी बाँहों में झुला रहा था, उसकी उनींदी पुतलियों पर मक्खियों का एक झुंड भिनभिना रहा था। बच्चे हमारे आस-पास इकट्ठा हो गए, इस बात का खयाल रखते हुए कि उनकी नंगी त्वचा उस 'शेड' की झुलसती हुई टीन की दीवारों से लगकर कहीं जल न जाए, जिसे वे घर कहते हैं। उस आदमी का दिमाग अपने बीमार बच्चे की समस्या से कोसों दूर था। वह मुझे फलों की एक सूची गिना रहा था जिसे वह जंगल में बीन लिया करता था। उसने अड़तालीस तरह के फल गिने। उसने मुझसे कहा कि उसे या उसके बच्चों की जिंदगी में शायद ही कभी फल मयस्सर होंगे, अगर वे चोरी नहीं करें।

मैंने उससे पूछा कि बच्चे को क्या हुआ है। उसने कहा कि इस तरह जीने से तो अच्छा है कि बच्चा मर जाए। मैंने पूछा कि बच्चे की माँ इस बारे में क्या सोचती है। उस महिला ने जवाब नहीं दिया। वह बस घूरती रही।

जिन लोगों को नए सिरे से बसना पड़ा है, उन्हें सब कुछ नए सिरे से सीखना पड़ रहा है। हर छोटी चीज, हर बड़ी चीज। हगने और मूतने (कहाँ जाओगे इस काम के लिए, जब आड़ के लिए जंगल नहीं हैं ?) से लेकर बस-टिकट खरीदने, नई भाषा सीखने, पैसे की समझ पैदा करने तक। और सबसे 'बदतरीन' याचक होना सीखना। आदेश लेना सीखना। एक मालिक की आदत डालना सीखना, यह सीखना कि उसी समय जवाब दिया जाए जब कुछ पूछा जा रहा हो।

इन सबके साथ-साथ उन्हें यह सीखना पड़ रहा है कि अपनी किसी समस्या को लेकर सरदार सरोवर नर्मदा निगम या ग्रीवांस रिड्रेसल कमेटी को लिखित प्रतिवेदन (ट्रिप्लिकेट में) कैसे दिया जाए। हाल ही में तीन हजार लोग, रात-भर का रेल का सफर करके, चौंधियाती हुई सड़कों पर रहते हुए, अपनी हालत पर विरोध जताने के लिए दिल्ली आए।[65] राष्ट्रपति उनसे नहीं मिले, क्योंकि उनकी आँख में तकलीफ थी। सामाजिक न्याय

और सशक्तीकरण मंत्री मेनका गाँधी उनसे नहीं मिलीं, लेकिन उन्होंने लिखित प्रतिवेदन माँगा (डियर मेनका, कृपया बाँध मत बनाओ, सस्नेह, लोग)। जब प्रतिवेदन उन्हें सौंपा गया तो उन्होंने छोटे-से प्रतिनिधिमंडल को इस बात के लिए झिड़की दी कि इसे अंग्रेजी में क्यों नहीं लिखा गया है।

आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होने की जगह कंगाल हो जाना और एक ऐसी दुनिया की सनक के जुए में जुत जाना, जिसके बारे में वे कुछ नहीं जानते, कुछ भी नहीं—आपको क्या लगता है, यह कैसा महसूस होता होगा ? क्या आप गोवा में अपने समुद्रतटीय घर की जगह पहाड़गंज में एक झोंपड़ी लेना पसंद करेंगे ? नहीं ? राष्ट्र की खातिर भी नहीं ?

सचमुच, राज्य प्रशासन के लिए, किसी भी राज्य प्रशासन के लिए इतने बड़े पैमाने पर इतने कातर लोगों के पुनर्वास की व्यवस्था करना मुमकिन नहीं है। यह किसी बच्चे के नाखून काटने के लिए हेज-कटर का इस्तेमाल करने जैसा है। बिना पूरी अंगुली काटे आप यह काम कर ही नहीं सकते।

जमीन के लिए जमीन एक तर्कसंगत अदला-बदली लगती है, लेकिन आप इसे कैसे क्रियान्वित करते हैं ? आप कैसे दो लाख लोगों (सरकारी अनुमान के मुताबिक) को उखाड़ते हैं—जिनमें 1,17,000 आदिवासी लोग हैं—और उन्हें दूसरी जगह मानवीय ढंग से बसाते हैं ? आप कैसे उनके समुदायों को बचाए रखते हैं, वह भी एक ऐसे देश में, जहाँ इंच-इंच जमीन के लिए लड़ाई होती हो, जहाँ अदालतों में लंबित पड़े लगभग सभी मुकदमे जमीन-विवादों से संबद्ध हैं ?

कहाँ है वह अच्छी, अनधिकृत मगर खेती लायक जमीन, जो इन अखंडित समुदायों के बसने की प्रतीक्षा कर रही है ?

सीधा-सा जवाब है कि नहीं है। इस एक बाँध के 'अधिकृत' विस्थापितों तक के लिए नहीं।

बाकी 3,299 बाँधों का क्या होगा ? विनाश के लिए बचे हुए हजारों परियोजना-प्रभावित लोगों का क्या होगा ? क्या हम सब उनके दरवाजे पर लाल निशान लगाकर उन्हें भूल जाएँगे ?
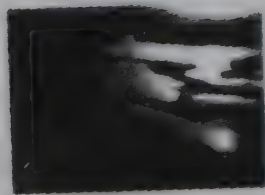
महेश्वर बाँध का जलाशय मध्य प्रदेश के निमाड़ के मैदानों में साठ गाँवों को पूरी तरह या अंशतः डुबो देगा। इन गाँवों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा—मोटे तौर पर एक-तिहाई—केवट और कहार, माँझियों के पुराने समुदाय, मछुआरे, बालू खोदने वाले और गाद वाले रेतीले किनारों पर खेती करने वाले हैं। अधिकतर के पास अपनी जमीन नहीं है, मगर नदी उन्हें बचाए रखती है और उनके लिए किसी भी चीज से ज्यादा अहमियत रखती है। जब बाँध बन जाएगा तो हजारों केवटों और कहारों की आजीविका का एकमात्र साधन छिन जाएगा। फिर भी, बस इसलिए कि वे भूमिहीन हैं, वे नियमों के मुताबिक परियोजना-प्रभावित नहीं ठहरते और पुनर्वास के हकदार नहीं रहेंगे।

जालुड़ साठ गाँवों में पहला है जो महेश्वर बाँध के जलाशय से डूबेगा। जालुड़ आदिवासी गाँव नहीं है इसलिए उस शर्मनाक जाति-व्यवस्था में बँटा हुआ है जो हर सामान्य हिंदू गाँव के लिए एक धब्बा है। जमीन की मिल्कियत रखने वाले किसानों की बड़ी संख्या (जो परियोजना-प्रभावित माने जाते हैं) राजपूत है। वे भारत की सबसे उपजाऊ जमीन के एक हिस्से पर खेती करते हैं। उनके घरों में चावल, दाल और गेहूँ के बोरों का अंबार लगा होता है। अपनी जमीन पर उगने वाली फसलों के बारे में वे इतने अभिमान से बोलते हैं कि अगर यह इतना त्रासद न हो तो किसी को भी झुँझलाहट से भर सकता है। बाँध-स्थल पर इस्तेमाल किए जा रहे डाइनामाइटों के असर से उनके मकानों में अभी से दरार पड़ने लगी है।

बारह परिवार, जिनके बाँध-स्थल के करीब छोटे-छोटे भूखंड थे, अधिग्रहण के चलते अपनी जमीन से हाथ धो बैठे हैं। उन्होंने मुझे बताया कि उनके ऐतराज करने पर किस तरह उनकी पानी की पाइपों में सीमेंट भर दिया

गया, उनकी खड़ी फसल को रौंद दिया गया और पुलिस ने जबरदस्ती जमीन पर कब्जा कर लिया। सभी बारह परिवार अब भूमिहीन हैं और दिहाड़ी पर काम करते हैं।

जिस इलाके में जालुड़ के राजपूतों को भेजा जा रहा है, वह नदी से कुछ किलोमीटर दूर भीतरी हिस्से में है और सामराज नाम के एक गाँव की मुख्यतया दलित और आदिवासी बस्ती के पड़ोस में है। मैंने जमीन का वह विशाल टुकड़ा देखा जिस पर उनके लिए निशान लगाया हुआ था। यह ठूँठदार घास और झाड़ियों से भरी एक सख्त पथरीली पहाड़ी थी जिस पर ट्रकों से ला-लाकर गाद उतारी जा रही थी और इस तरह परतों में बिछाई जा रही थी कि वह उपजाऊ काली मिट्टी लगे।

यह कथा इस तरह है : एस. कुमार्स (कपड़ा उद्योगपति से बने राष्ट्र-निर्माता) की ओर से डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने पहाड़ी पर कब्जा किया जो वास्तव में गाँव की सामूहिक चरागाह थी और 'सामराज के लोगों की मिल्कियत थी। साथ ही साथ 34 दलित और आदिवासी गाँव वालों की जमीन भी अधिग्रहीत कर ली गई। कोई मुआवजा नहीं दिया गया।

जिन गाँव वालों की आजीविका का मुख्य साधन उनके मवेशी थे, उन्हें अपनी बकरियाँ और भैंसें बेचनी पड़ गईं क्योंकि उन्हें चराने के लिए उनके पास कोई जगह नहीं रह गई थी। अब गाँव के पास एक छोटी-सी झील का किनारा उनकी आय का अकेला बचा हुआ साधन रह गया है (था)। गर्मी में जब जल-स्तर घट जाता है, तब उपजाऊ मिट्टी का एक छिछला हिस्सा रह जाता है जिस पर गाँव वाले चावल और खीरे और खरबूजे उगाते हैं (थे)।

एस. कुमार्स ने पथरीली चरागाह को (जिसे जालुड़ के राजपूत नहीं चाहते) सजावटी ढंग से ढँकने के लिए इस गाद की खुदाई करवा दी है। झील के किनारे अब तीखी ढलान वाले और उपज के लिए बेकार हो चुके हैं।

पहले से ही कंगाल हो गए सामराज के लोगों के पास भुखमरी के अलावा कोई चारा नहीं रह गया है, जबकि यह दृश्य जर्मन और स्विस ऋणदाताओं, भारतीय अदालतों और उस हर किसी के लिए तैयार किया

जा रहा है, जो इस रास्ते से गुजरने की जहमत मोल ले।

इसी तरह भारत काम करता है। यह महेश्वर बाँध की उत्पत्ति-कथा है। पहले गाँव की कहानी। बाकी उनसठ का क्या होगा ? काश कि इस बाँध को बद्‌दुआएँ लगें ! काश कि बुलडोजर कपड़ा-उद्योगपतियों की तरफ मुड़ जाए !

इस तरह के बर्ताव की कोई कैफियत नहीं हो सकती।

इस तरह के हालात में पुनर्वास को लेकर किसी बहस का स्वागत करना भी न्याय के सिद्धांत को ताक पर रखने की दिशा में पहला कदम होगा। चार करोड़ लोगों के लिए पीने का पानी ले जाने (ले जाने का बहाना करने) के लिए दो लाख लोगों का पुनर्वास–यहाँ इतने बड़े पैमाने की कार्रवाई में निश्चय ही कुछ बहुत गलत है। यह फासीवादी गणित है। यह कहानियों का गला घोंट देता है। ब्योरों को पीस डालता है और अपने जाली, चमचमाते ब्योरों के साथ पूरी तरह तार्किक लोगों को भी चकमा देने देता है।
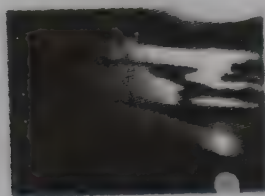
जब मार्च '99 के आखिरी दिनों में मैं नर्मदा के किनारे पहुँची तब सरदार सरोवर बाँध के निर्माण-कार्य पर लगी रोक अचानक उठा लेने का सर्वोच्च न्यायालय का फैसला आए एक महीना बीत चुका था। मैं काफी कुछ पढ़ चुकी थी, वह सारा कुछ (वे सारे 'गोपनीय' सरकारी दस्तावेज) जहाँ तक मेरे हाथ पहुँच सकते थे। जमीन के हालात का–किसके साथ कब और कहाँ क्या हुआ था–मुझे स्पष्ट अंदाजा था। कहानी मेरी आँखों के आगे किसी ट्रेजिक फिल्म की तरह खुलने लगी जिसके कलाकारों से मैं पहले मिल चुकी थी। अगर मुझे इसका इतिहास नहीं मालूम होता तो कुछ भी समझ में न आया होता क्योंकि घाटी में कहानियों के भीतर कहानियाँ हैं

और दूसरे लोगों के दुख के कीचड़ में अपने गुस्से की स्पष्टता को खो बैठना बहुत आसान है।

मैंने अपनी यात्रा केवड़िया कॉलोनी में खत्म की, जहाँ से यह सब कुछ शुरू हुआ था। अड़तीस साल पहले यही जगह थी जहाँ गुजरात सरकार ने वह आधारभूत ढाँचा खड़ा करने का निर्णय लिया था जिसकी बाँध पर काम शुरू करने के लिए जरूरत थी : गेस्ट हाउस, दफ्तर के खंड, अभियंताओं और उनके कर्मचारियों के लिए आवास, बाँध-स्थल तक ले जाने वाली सड़क, निर्माण-सामग्री के लिए मालगोदाम। अब जो सरदार सरोवर जलाशय और जादुई नहर है, गुजरात की 'जीवनरेखा', जो लाखों की प्यास बुझाने जा रही है, यह उसके सिरे पर स्थित है।

किसी को यह पता नहीं है, मगर केवड़िया कॉलोनी ही दुनिया के लिए कुंजी है। वहाँ जाइए और आपके आगे सारे राज़ उजागर हो जाएँगे।

1961 की सर्दियों में एक सरकारी अफसर ने कोठी नामक गाँव में पहुँचकर गाँव वालों को कहा कि एक हेलीपैड के निर्माण के लिए उनको कुछ जमीन की जरूरत पड़ेगी क्योंकि कोई बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्यक्ति यहाँ आने वाला है। कुछ दिनों में वहाँ बुलडोजर पहुँचा और उसने खड़ी फसलों को चपटा कर दिया। गाँव वालों से कुछ कागजात पर दस्तखत कराए गए और उन्हें कुछ पैसा दिया गया जो उनके खयाल से उनकी बरबाद हुई फसल का भुगतान था। जब हेलीपैड तैयार हो गया, एक हेलीकॉप्टर उस पर उतरा और बाहर निकले प्रधानमंत्री नेहरू। ज्यादातर गाँव वाले उन्हें देख नहीं पाए क्योंकि वे पुलिस वालों से घिरे थे। नेहरू ने एक भाषण दिया। फिर उन्होंने एक बटन दबाया और नदी के दूसरी तरफ धमाका हुआ। धमाके के बाद वे जहाज से चले गए।[66] सरदार सरोवर बाँध की यही बुनियाद थी।

काश कि नेहरू जान पाते कि उन्होंने जैसे ही एक बटन दबाया, एक दुःस्वप्न का सिलसिला शुरू हो गया।

जब नेहरू चले गए तब गुजरात सरकार मजबूती के साथ पहुँची। उसने छह गाँवों के 950 परिवारों की 1600 एकड़ जमीन अधिग्रहीत कर ली।[67] ये लोग तड़वी आदिवासी थे, मगर बड़ौदा शहर से अपनी निकटता

08955
DM-110
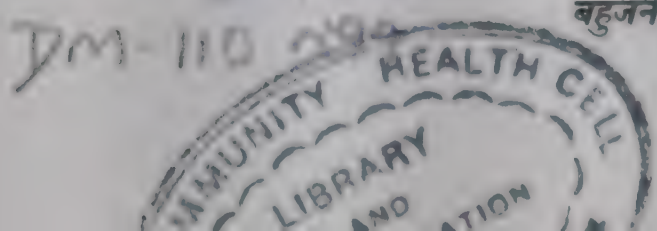
के कारण बाजार-अर्थव्यवस्था के तौर-तरीकों से पूरी तरह अपरिचित नहीं थे। उन्हें नोटिस भेजा गया और कहा गया कि उन्हें नगद मुआवजा और बाँध-स्थल पर काम दिया जाएगा। उसके बाद दुःस्वप्न शुरू हुआ। ट्रक और बुलडोजर दौड़ने लगे। जंगल गिराए जाने लगे, फसलें नष्ट की जाने लगीं। सब कुछ जीप और इंजीनियर और सीमेंट और स्टील की चकरघिन्नी में बदल गया। मोहन भाई तड़वी ज्वार, तूवर और कपास से लहलहाते अपने आठ एकड़ के खेत को समतल किया जाता देखते रहे। रातों-रात वे भूमिहीन मजदूर हो गए। तीन साल बाद उन्हें तीन अलग-अलग किस्तों में 250 रुपए प्रति एकड़ के हिसाब से नगद मुआवजा मिला।

देरसुख भाई वेसा भाई के पिता को उनके मकान और सारे पेड़ों सहित खड़ी फसल वाली जमीन के लिए 3500 रुपए का मुआवजा दिया गया। अपने पिता का हाथ पकड़े सारे रास्ते पैदल चलकर राजपीपला (जिला मुख्यालय) जाने की बात उन्हें याद है। उन्हें याद है कि जब तहसीलदार के दफ्तर से उन लोगों को बुलाया गया था, तो वे कितने डरे हुए थे। उनसे उनके मुआवजे का नोटिस रखवा लिया गया और एक रसीद पर दस्तखत करा लिये गए। वे पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिए उन्हें नहीं पता कि कितने की रसीद बनाई गई थी।

हर किसी को राजपीपला जाना पड़ता था मगर उन्हें अलग-अलग दिनों पर बुलाया जाता था, एक-एक करके। इसीलिए वे आपस में सूचनाएँ नहीं बाँट सके, न जान सके कि एक की आपबीती दूसरे से कितनी अलग है।

क्रमशः धूल और बुलडोजर के बीच एक आक्रामक छितराया हुआ आकार उभरा। केवड़िया कॉलोनी। सीमेंट के कुरूप फ्लैटों की कतार पर कतार, दफ्तर, गेस्ट हाउस, सड़कें। बड़े बाँधों के निर्माण का सारा फूहड़ आधारभूत ढाँचा। गाँव के मकानों की कील-काँटी हटाई गई और उन्हें कॉलोनी के सीमांत पर खड़ा कर दिया गया, वे आज भी वहीं हैं, अपनी ही जमीन पर अतिक्रमणकारियों जैसे। जिन्होंने कुछ प्रतिरोध करने की कोशिश की, उन्हें पुलिस और निर्माण कंपनी द्वारा हड़काया गया। गाँव वालों ने मुझे बताया कि ठेकेदार के मुख्यालय में भी पुलिस की हवालात

जैसी एक हवालात थी, जहाँ प्रतिरोध करने वाले गाँव वालों को बंद करके पीटा जाता था।

केवड़िया कॉलोनी बनाने के लिए जिन लोगों को खाली कराया गया, वे गुजरात सरकार के पुनर्वास पैकेज में 'परियोजना-प्रभावित' कहलाने की अर्हता नहीं रखते।

उनमें से कुछ अफसरों के बँगलों पर नौकरों की तरह और कुछ गेस्ट हाउस में बेयरों के रूप में काम करते हैं जो उसी जमीन पर बना है जहाँ कभी उनके मकान हुआ करते थे। क्या इससे भी मर्मभेदी कुछ हो सकता है ?

जिनके पास कुछ जमीन रह गई थी, उन्होंने उस पर खेती करने की कोशिश की, मगर केवड़िया नगरपालिका ने एक योजना लागू की जिसके तहत वे सड़कों पर बिखरा हुआ कचरा खाने के लिए कुछ सूअर ले आए। सूअर गाँव वालों के खेत में घुस जाते हैं और फसल बरबाद कर देते हैं।

तीस साल बाद, 1992 में इन परिवारों को 12,000 रुपए प्रति एकड़ के हिसाब से अधिकतम 36,000 रुपए तक के मुआवजे की पेशकश की गई है, मगर इस शर्त पर कि वे अपने घर छोड़कर कहीं और चले जाने को तैयार हो जाएँ। तिस पर अब तक अधिग्रहीत की गई 40 फीसदी जमीन बिना इस्तेमाल के पड़ी है। सरकार इसे वापस लौटाने से इनकार करती है। देवी बेन से, जो एक विधवा है, अधिग्रहीत ग्यारह एकड़ जमीन स्वामी नारायण ट्रस्ट (एक बड़ा धार्मिक पंथ) को दे दी गई है। इसके एक छोटे-से हिस्से पर ट्रस्ट एक स्कूल चलाता है। बाकी पर खेती करता है, जबकि देवी बेन काँटेदार बाड़ के पार से देखती भर रहती है। गोरा गाँव की 200 एकड़ अधिग्रहीत जमीन से गाँव वालों को खाली करा लिया गया और फ्लैटों के ब्लॉक खड़े कर दिए गए। वर्षों तक वे खाली पड़े रहे। आखिरकार सरकार ने उन्हें बाँध-निर्माताओं, जयप्रकाश एसोसिएट्स को किराए पर दे दिया, जिसने गाँव वालों के मुताबिक 32,000 रुपए प्रति माह के हिसाब से उन्हें फिर से किराए पर उठा दिया है। (जयप्रकाश एसोसिएट्स, देश के सबसे बड़े बाँध ठेकेदार, *असली* राष्ट्र-निर्माता, दिल्ली में सिद्धार्थ कॉन्टिनेंटल और वसंत कॉन्टिनेंटल होटल के मालिक हैं।)

करीब तीस एकड़ जमीन पर शूलपानेश्वर मंदिर की एक बेतुकी सीमेंट की पी.डब्ल्यू.डी. नुमा अनुकृति है जो जलाशय में डूब गया था। जिन सैकड़ों मंदिरों में सदियों से पूजा होती आ रही थी, उन्हें डुबोते हुए वही राजनैतिक संगठन कुछ नहीं सोचता है जिसने पूरे राष्ट्र को एक खूनी, मध्ययुगीन दुःस्वप्न में डुबो दिया था क्योंकि वह एक पुरानी मस्जिद को तोड़कर एक ऐसे मंदिर को खोज निकालने पर आमादा था जिसका कोई वजूद नहीं था।

पवित्र पहाड़ियों और वनों को, पूजा-स्थलों को, आदिवासियों के देवताओं और दानवों के पुराने ठिकानों को नष्ट करते हुए यह कुछ नहीं सोचता है।

उस घाटी को डुबोते हुए यह कुछ नहीं सोचता है, जहाँ से जीवाश्म, पुराने पत्थर के टुकड़े और प्रस्तर चित्र मिलते रहे हैं, जो पुरातत्त्वविदों के मुताबिक, भारत की अकेली ऐसी घाटी है जहाँ पुरापाषाण काल से लेकर अब तक मानव-अस्तित्व के निर्बाध-निरंतर चिह्न दिखाई पड़ते हैं।

कोई क्या कह सकता है ?

केवड़िया कॉलोनी का सबसे बर्बर मजाक वन्य जीव संग्रहालय है। शूलपानेश्वर सैंक्चुअरी इंटरप्रिटेशन सेंटर आपको वन्य जीव-संरक्षण के प्रति सरकार की प्रतिबद्धता का त्वरित-समग्र साक्ष्य सुलभ कराता है।

बाँध के अपनी पूरी ऊँचाई पर पहुँच जाने के बाद सरदार सरोवर लगभग 13,000 हेक्टेयर समृद्ध जंगली इलाके को डुबोने जा रहा है। (डूब की आशंका के चलते कई लालची वर्षों पहले ही जंगल काटे जाने लगे थे।) नर्मदा सागर बाँध और सरदार सरोवर बाँध के बीच 50,000 हेक्टेयर के पुराने पर्णपाती जंगल डूब जाएँगे। समूचे भारत में वनाच्छादन के लोप की सबसे तेज दर मध्य प्रदेश में ही है। नर्मदा के घट रहे प्रवाह और बढ़ रही गाद के लिए काफी हद तक यह भी जिम्मेदार है। क्या इंजीनियरों ने जंगल, वर्षा और नदियों के बीच कोई संबंध समझा है ? इसकी संभावना नहीं है। यह उनका सिरदर्द नहीं है। डूब की वजह से जीवों के निवास और जैव-विविधता के लोप के बढ़े हुए खतरों पर पर्यावरणवादियों और संरक्षणवादियों की चिंता सचमुच पूरी तरह सही थी ?

नुकसान को कम करने के लिए सरकार ने शूलपानेश्वर अभयारण्य को नदी के दक्षिण में बाँध के करीब तक फैलाने का फैसला किया। यह एक ऐसा शेखचिल्लीपना है जिसमें मान लिया गया है कि डूब रहे जानवर तैरकर उस 'वन्य जीव-गलियारे' में पहुँच जाएँगे जो इनके लिए बनाया जाएगा और नए, विकसित शूलपानेश्वर अभयारण्य में अपना ठिकाना बना लेंगे।

माना जाता है कि जैव-विविधता और वन्य-जीवन सिर्फ तभी बचाए-बनाए रखे जा सकते हैं जब मानवीय गतिविधियों पर रोक हो और वन-संसाधनों के इस्तेमाल के पारंपरिक अधिकारों में कटौती हो। शूलपानेश्वर अभयारण्य की सीमा के भीतर 101 गाँवों के 40,000 लोग अपनी आजीविका के लिए जंगल पर निर्भर रहते हैं। यह छोड़ने के लिए उनकी 'मान-मनुहार' की जाएगी। ये लोग 'परियोजना-प्रभावित' की परिभाषा में शामिल नहीं हैं।

वे कहाँ जाएँगे ? मुझे यकीन है अब तक आप जान चुके होंगे।

असली दुनिया में उनकी जो भी मुश्किलें हों, शूलपानेश्वर अभयारण्य व्याख्या केंद्र में (जहाँ एक पुराने भूसा भरे तेंदुए और फफूँदियाए रीछ को एक ही कोने में साझा करके काम चलाना पड़ रहा है) आदिवासियों के लिए अपना एक पूरा कमरा है। दीवार पर बेढंगी लकड़ी की नक्काशियाँ हैं, 'ट्राइबल आर्ट' के बोर्ड के साथ सरकारी मान्यता हासिल आदिवासी कला। केंद्र में एक समूचे आकार की झोंपड़ी है जिसके दरवाजे खुले हुए हैं। आग पर बर्तन चढ़ा हुआ है, फर्श पर कुत्ता सोया पड़ा है और दुनिया में सब कुछ सही है। बाहर आपका स्वागत करने के लिए श्रीमान और श्रीमती आदिवासी हैं। लुगदी का बना हुआ, एक मुस्कराता जोड़ा। मुस्कराता हुआ ! उन्हें नाराज होने की भी इजाजत नहीं है। यही बात मेरे गले के नीचे नहीं उतर रही।

ओह, लेकिन मैंने इसे गलत तो नहीं समझा है ? अगर वे राष्ट्रीय गर्व के साथ मुस्करा रहे हों तो ? गुजरात के लाखों प्यासों के वास्ते पीने का पानी लाने के लिए अपनी जिंदगियाँ कुरबान करने की खुशी से दमकते हुए ?

बीस साल से गुजरात के लोग उस पानी का इंतजार कर रहे हैं जो उन्हें यकीन दिलाया गया है कि जादुई नहर से आएगा। साल-दर-साल गुजरात सरकार राज्य के सिंचाई बजट का 85% सरदार सरोवर परियोजना पर निवेश करती रही है। इसकी खातिर हर छोटी, त्वरित, स्थानीय, ज्यादा व्यावहारिक योजना ताक पर रख दी गई है। चुनाव के बाद चुनाव लड़े और पानी के 'टिकट' पर जीते गए हैं। हर किसी की उम्मीदें जादुई नहर से जुड़ी हुई हैं। क्या वह गुजरात के सपनों को पूरा करेगी ?

सरदार सरोवर बाँध से नर्मदा उपजाऊ मैदानी इलाकों में 180 किलोमीटर बहती हुई भड़ूच में अरब सागर में जा गिरती है। जादुई नहर की वजह से अधिकांश नदी 90 डिग्री उत्तर की तरफ मुड़ती हुई एक नया रास्ता पकड़ लेगी। किसी नदी के साथ इस तरह का सलूक बहुत ही भयंकर है। भड़ूच में नर्मदा का मुहाना वह आखिरी जगह है जहाँ भारत की सबसे लजीज मानी जाने वाली मछली हिल्सा मिलती है।

दक्षिण भारत में स्टेनले बाँध ने कावेरी नदी से हिल्सा का सफाया कर दिया और पाकिस्तान के गुलाम मोहम्मद बाँध ने सिंधु में इसकी पैदाइश के इलाके को नष्ट कर दिया। सामन की तरह हिल्सा भी एक समुद्रअपगामी मछली है, जो मीठे पानी में जन्म लेती है, छुटपन में सागर में चली जाती है और फिर अंडे देने के लिए नदी में लौट आती है। बाँध के पीछे फँसी हुई सारी तलछट और जल-प्रवाह की भयंकर कमी पानी के रासायनिक स्वभाव पर सीधे असर डालती है। इससे नदी के मुहाने की पारिस्थितिकी मूलभूत तौर पर बदल जाएगी और साफ पानी और समुद्री पानी का वह नाजुक संतुलन बिगड़ जाएगा जिससे हिल्सा की पैदाइश पर असर पड़े बिना नहीं रहेगा। वर्तमान में नर्मदा के मुहाने में

13,000 टन हिल्सा और मीठे पानी की झींगा मछलियाँ (जो खारे पानी में भी अंडे देती हैं) होती हैं। 10,000 मछुआरा परिवार अपनी आजीविका के लिए इस पर निर्भर हैं।[68]

मोर्स समिति यह जानकर हतप्रभ रह गई थी कि नदी के निचले हिस्से की पारिस्थितिकी का कोई अध्ययन नहीं किया गया है[69], नदीय पर्यावरण तंत्र का, इसके जलवायु परिवर्तन, जैव प्रजातियों, या जिस तरह इससे संसाधनों का इस्तेमाल होना है, उसका कोई रिकार्ड तैयार नहीं किया गया है। बाँध-निर्माताओं को कतई अंदाजा नहीं था कि निचले हिस्से के पर्यावरण और लोगों पर बाँध का क्या असर पड़ेगा, उसे कम करने के उपायों की तो बात ही अलग है।

सरकार बस इतना कहती है कि वह हिल्सा के नुकसान की भरपाई के लिए जलाशय में कृत्रिम मत्स्य उत्पादन के लिए गुंजाइश बनाएगी। (जलाशय पर किसका नियंत्रण रहेगा ? अपने पसंदीदा और पैसा देने वाले ग्राहकों को कौन व्यावसायिक मत्स्याखेट का अधिकार देगा ?) अभी तक बस यही मुश्किल है कि वैज्ञानिकों को कृत्रिम ढंग से हिल्सा के उत्पादन में कामयाबी नहीं मिली है। हिल्सा की उत्पत्ति इस बात पर निर्भर करती है कि उसके अंडे प्रजनन की स्वाभाविक स्थितियों में आएँ, जिनके बाँध के चलते खत्म हो जाने की पूरी आशंका है। दुनिया-भर के मीठे पानी की मछलियों के पाँचवें हिस्से को बाँधों ने या तो खतरे में डाल दिया है या पूरी तरह खत्म कर डाला है।[70]

इसलिए ! इस सवाल का जवाब दें—40,000 मछुआरे कहाँ जाएँगे ?

अपने पाठक खोने का जोखिम उठाते हुए भी—मुझे कई बार चेतावनी दी गई है, 'तुम सिंचाई के बारे में क्या लिखोगी ? कौन कमबख्त दिलचस्पी लेगा ?—मैं आपको बताती हूँ कि जादुई नहर क्या है और उसे किसलिए तैयार किया जा रहा है। ध्यान से सुनें अगर आप लौह-त्रिभुज के चिपचिपे चंगुल से अपने भविष्य को वापस खींच लेना चाहते हैं।

भारत की ज्यादातर नदियों का पेट मानसून भरता है। उनके प्रवाह का 80-85% अंश बरसाती महीनों—अमूमन जून से सितंबर के बीच—बनता है। एक बाँध, सिंचाई बाँध का उद्देश्य इस मानसून के पानी को

अपने जलाशय में जमा रखना और बाकी बचे साल में नहरों के जाल की मार्फत सूखे खेतों तक पहुँचाते हुए कायदे से इस्तेमाल करना होता है। नहरों के संजाल से सिंचाई की सुविधा पाने वाले इलाके को 'कमांड एरिया' कहते हैं।

सिर्फ मौसमी सिंचाई के आदी इस कमांड एरिया की, मानसून की बारिश के अकेले स्पंदन के लिए बनी इस समूची पारिस्थितिकी की अपनी साल-भर की सिंचाई पर कैसी प्रतिक्रिया होगी ? बारहमासी सिंचाई मिट्टी के साथ वही करती है जो मोटे तौर पर स्टेरॉयड्स मनुष्य के शरीर के साथ करते हैं। स्टेरॉयड्स एक सामान्य-से एथलीट को ओलंपिक चैंपियन में बदल सकते हैं; बारहमासी सिंचाई से जो जमीन साल में बस एक ही फसल पैदा करती थी, अचानक साल में कई फसलें देने वाली मिट्टी में बदल सकती है। जिन जमीनों पर किसान पारंपरिक तौर पर वे फसलें उगाते थे, जिन्हें ज्यादा पानी की जरूरत नहीं पड़ी थी (मक्का, जौ, बाजरा और कई तरह की दालें) वे अचानक पानी सोखने वाली नगदी फसलें कपास, धान, सोयाबीन और सबसे ज्यादा पानी सोखने वाला गन्ना उपजाने लगती हैं। इससे कमांड एरिया का पारंपरिक फसल-चक्र पूरी तरह बदल जाता है। लोग वे फसलें उगाना छोड़ देते हैं जो वे खा सकते हैं, और ऐसी चीजें उगाना शुरू कर देते हैं जिन्हें बस बेचना ही उनके बूते में है। खुद को 'बाजार' से जोड़ने के बाद, अपनी जिंदगियों पर उनका नियंत्रण बहुत ढीला पड़ जाता है।

पारिस्थितिकी के लिहाज से भी यह एक जहरीली कीमत है। अगर बाजार साथ भी दे तो मिट्टी साथ नहीं देती। वक्त के साथ अपने से की गई अतिरिक्त माँग को पूरा करने के लिहाज से यह काफी कमजोर पड़ जाती है। क्रमशः जिस तरह स्टेरॉयड्स इस्तेमाल करने वाला एथलीट अशक्त होता जाता है, ठीक उसी तरह मिट्टी भी खराब और क्षरित हो जाती है और खेती की उपज घटना शुरू हो जाती है।[71]

आज भारत में कुएँ के पानी से सींची गई जमीन नहरों से सींची गई जमीन की तुलना में लगभग दुगुनी पैदावार देती है।[72] मिट्टी की कुछ किस्में बाकी की तुलना में बारहमासी सिंचाई के लिए कम उपयुक्त होती हैं।

बारहमासी नहर सिंचाई पानी के फलक का स्तर ऊँचा कर देती है। जब पानी मिट्टी से होता हुआ बहता है, यह नमक को घुला लेता है। मिट्टी के रंध्रों से होता हुआ यह लवणीय पानी सतह पर खिंच आता है और जमीन जल-जमाव की शिकार हो जाती है। यह 'जमा' हुआ पानी वनस्पतियों द्वारा वातावरण में छोड़ा जाता है और इससे मिट्टी में लवण की मात्रा और ज्यादा बढ़ती है। जब मिट्टी में लवण की मात्रा एक प्रतिशत तक पहुँच जाती है तो मिट्टी वनस्पतियों के जीवन के लिए जहरीली हो जाती है। यह चीज लवणीकरण कहलाती है।

ऑस्ट्रेलियाई राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के संसाधन और पर्यावरणीय अध्ययन केंद्र द्वारा किए गए एक अध्ययन[73] से पता चलता है कि दुनिया की सिंचित भूमि का पाँचवाँ हिस्सा लवण-प्रभावित है। मध्य '80 तक पाकिस्तान में सिंचाई की सीमा में आने वाली 3.7 करोड़ हेक्टेयर जमीन में से 2.5 करोड़ हेक्टेयर के या तो लवणग्रस्त या फिर जल-जमाव का शिकार, या फिर दोनों ही होने का अनुमान था।[74] भारत में यह अनुमान 60 लाख से एक करोड़ हेक्टेयर तक बदलता रहता है।[75] 'गोपनीय' सरकारी अध्ययनों[76] के मुताबिक सरदार सरोवर के कमांड एरिया के 52% से ज्यादा हिस्से में जल-प्रवाह और लवणीयता की प्रवृत्ति है।

और बुरी खबर का अंत यही नहीं है।

460 किलोमीटर लंबी, कंक्रीट की बनी सरदार सरोवर जादुई नहर और उसकी शाखा-नहरों और उपशाखा-नहरों के 75,000 किलोमीटर लंबे संजाल से 12 जिलों में पसरी कुल 20 लाख हेक्टेयर जमीन की सिंचाई की योजना है। कच्छ और सौराष्ट्र के जिले (गुजरात के प्यास-प्रचार की तख्तियाँ) इस संजाल के बिलकुल आखिरी सिरे पर हैं। नहरों की यह व्यवस्था कमांड एरिया के प्राकृतिक निकास का रास्ता रोक देती है। यह कुछ-कुछ किसी पत्ते पर बनी जालीदार आकृति को नए सिरे से गढ़ने जैसा है। जब कोई नहर किसी स्वाभाविक निकास के रास्ते से गुजरती है तो यह प्राकृतिक, मौसमी जल के प्रवाह को रोक देती है और जल-जमाव की स्थिति बन जाती है। इसका अभियांत्रिक समाधान इलाके के प्राकृतिक निकास का नक्शा तैयार करना और उसे एक कृत्रिम, वैकल्पिक

निकास-प्रणाली द्वारा बदलना है। जैसा कि आप अनुमान लगा सकते हैं, समस्या यह है कि ऐसा करना बहुत ही महँगा है। निकास-प्रणाली की लागत को सरदार सरोवर परियोजना में शामिल नहीं किया गया है। ज्यादातर सिंचाई परियोजनाओं में इसे शामिल नहीं किया जाता।

विश्व बैंक के दक्षिण एशिया के उपाध्यक्ष डेविड हॉपर ने स्वीकार किया है[77] कि दक्षिण एशिया की अपनी सिंचाई परियोजनाओं में बैंक आम तौर पर निकास-प्रणाली के खर्च को शामिल नहीं करता क्योंकि पर्याप्त निकास-प्रणाली के साथ सिंचाई परियोजनाएँ बहुत ही महँगी हो जाती हैं। किसी इलाके में सिंचाई की जो लागत आती है, उससे पाँच गुना ज्यादा लागत पर्याप्त निकास-प्रणाली मुहैया कराने में आती है। इससे संपूर्ण परियोजना की लागत अवहनीय दिखाई देने लगती है।

इस समस्या का बैंक द्वारा सोचा गया समाधान सिंचाई प्रणाली तैयार कर लेना और जल-जमाव और लवणीयता के पसरने का इंतजार करना है। जब सारा पैसा खर्च हो चुका हो और जमीन बरबाद हो चुकी हो और लोग हताश हों, तो कौन इत्तिफाकन टपक पड़ता है ? क्यों, वही मददगार बैंक ? और उसकी जेब में यह फूला हुआ क्या है ? क्या यह निकास-परियोजना के लिए कोई कर्ज हो सकता है ?

पाकिस्तान में विश्व बैंक ने सिंधु पर तरबेला (1977) और मंगला बाँध (1967) परियोजनाओं को वित्तीय मदद दी। उनके कमांड एरिया जल-जमाव के शिकार हैं।[78] अब बैंक ने एक निकास-परियोजना के लिए पाकिस्तान को 78.5 करोड़ डॉलर का कर्ज दिया है। भारत में पंजाब और हरियाणा में वह यही कर रहा है।

बिना निकासी के सिंचाई ऐसी ही है जैसे धमनी तो हो मगर कोई शिरा न हो। बेकार और बेमानी।

चूँकि विश्व बैंक ने सरदार सरोवर परियोजना से हाथ खींच लिया है, यह बहुत साफ नहीं है कि निकास-प्रणाली के लिए पैसा कहाँ से आने जा रहा है। इससे नहर पर काम जारी रखने के सरकार के इरादे पर कोई फर्क नहीं पड़ा है। नतीजा यह है कि अभी बाँध तैयार भी नहीं हुआ है, अभी जादुई नहर का काम किसी को सौंपा भी नहीं गया है, सिंचाई का

एक बूँद पानी भी अभी नहीं मिला है, मगर जल-जमाव अभी से ही शुरू हो गया है। इसका सबसे बुरा असर जिन इलाकों पर पड़ा है, उनमें पुनर्वास बस्तियाँ हैं।

सरदार सरोवर सिंचाई परियोजना के योजनाकारों और पुरानी परियोजनाओं के योजनाकारों में एक फर्क है। कम से कम वे यह कबूल करते हैं कि जल-जमाव और लवणीकरण 'वास्तविक' समस्याएँ हैं और इनसे मुखातिब होने की जरूरत है।

बहरहाल, इनके समाधान इतने बेतुके हैं कि उन पर सहसा यकीन ही नहीं होता। उनकी योजना कमांड एरिया के हर सौ वर्ग किलोमीटर पर भूमिगत जल के लिए इलेक्ट्रॉनिक सेंसरों की एक शृंखला बनाने की है। (यह कुल 1800 सेंसर हो जाता है।) ये एक केंद्रीय कंप्यूटर से जुड़े रहेंगे जो उपलब्ध आँकड़ों का विश्लेषण करेगा और नहरों के प्रमुखों को निर्देश भेजकर उन इलाकों में जल-प्रवाह रोकने को कहेगा जहाँ जल-जमाव के चिह्न दिखाई पड़ते हों। 'सिर्फ सिंचाई', 'सिर्फ निकास' और 'सिंचाई-सह-निकास' वाले कई नलकूप गाड़े जाएँगे और उनके जाल को एक केंद्रीय कंप्यूटर इलेक्ट्रॉनिक तरीके से एक संगति में ले आएगा। लवणीय जल को पंप से बाहर निकाला जाएगा, हिसाब लगाकर तय की गई मीठे पानी की एक निश्चित मात्रा से मिलाया जाएगा और फिर सतह की और सतह के कुछ नीचे की नालियों के जरिए पुनर्प्रवाहित कर दिया जाएगा (जिसके लिए और जमीन अधिग्रहीत करने की जरूरत पड़ेगी[79]।)

कल्पवृक्ष[80] की ओर से डॉ. राहुल राम द्वारा किए गए एक अध्ययन के मुताबिक उस सिंचाई क्षमता को हासिल करने के लिए, जो उनका दावा है कि वे करेंगे, जादुई नहर में जाने वाले 82 प्रतिशत पानी को फिर से पंप के जरिए निकालना होगा। योजनाकारों ने पहले कभी किसी इलेक्ट्रॉनिक सिंचाई योजना का क्रियान्वयन नहीं किया है, पायलट प्रोजेक्ट के तौर पर भी नहीं। यह खयाल उन्हें नहीं आया है कि किसी ऊसर जमीन पर वे यह प्रयोग करके देख लें कि यह काम करता भी है या नहीं। नहीं, वे इसे पूरे बीस लाख हेक्टेयर में लगाने के लिए हमारे पैसे का इस्तेमाल करेंगे और फिर देखेंगे कि यह काम करता है या नहीं।

अगर यह न करे तो ? न करे तो योजनाकारों को क्या फर्क पड़ता है ! उन्हें फिर भी कुछ वेतन मिलता रहेगा। उन्हें फिर भी अपनी पेंशन, अपनी ग्रेच्युटी और वह सब कुछ मिलेगा जो एक अवाम पर तबाही लाने वाले कैरिअर से अवकाश के बाद किसी को मिला करता है।

इसका काम करना कैसे संभव हो सकता है ? यह किसी मरखंडी गाय का दूध दुहने के लिए किसी राकेट-विज्ञानी को भेजने सरीखा है। वे कैसे एक दैत्याकार सिंचाई योजना का प्रबंध करेंगे जबकि वे नहरों की दीवारें भी कायदे से खड़ी नहीं कर सकते ?

जब वे सरदार सरोवर को ही बारिश के समय टूटने से नहीं बचा सके ?

उनके एक अध्ययन से एक उद्धरण, "ऊपर दी गई परिस्थितियों में भूमिगत जल और सतह के जल को मिलाने की योजना, उसका क्रियान्वयन और प्रबंधन जटिल है।"[81]

सहमत। कम से कम इतना तो माना। जटिलता से निबटने के लिए उनका सुझाव : "ऐसे तंत्र को क्रियान्वित करना तभी संभव होगा जब समूचे भूमिगत जल और सतह के जल की आपूर्ति का प्रबंधन कोई एक प्राधिकार करे।"[82]

वाह !

अब इसका मतलब समझ में आने लगा है। पानी का मालिक कौन होगा ? एक अकेला प्राधिकार। पानी कौन बेचेगा ? वही अकेला प्राधिकार। बिक्री का मुनाफा कौन लेगा ? वही अकेला प्राधिकार ?

एक अकेले प्राधिकार की एक योजना है जिसके तहत वह लीटर के हिसाब से पानी बेचेगा, व्यक्तियों को नहीं, किसानों के सहकारिता संघ को (जिसका अभी तक कोई वजूद नहीं है लेकिन बिला शक यह अकेला प्राधिकार सहकारिता संघ बना सकता है और किसानों को आपस में सहयोग करने पर मजबूर कर सकता है)।

नदी के साधारण पानी के विपरीत कंप्यूटर का पानी महँगा है। सिर्फ वही पाएँगे जो इसका खर्च वहन कर सकते हैं। धीरे-धीरे छोटे किसान बड़े किसानों द्वारा किनारे कर दिए जाएँगे और उजाड़े जाने का एक पूरा

चक्र नए सिरे से शुरू हो जाएगा।

एक अकेला प्राधिकार, चूँकि यह कंप्यूटर के पानी का मालिक है, यह भी तय करेगा कि कौन क्या उगाएगा। यह कहता है कि कंप्यूटर का पानी लेने वाले किसानों को गन्ना उगाने की इजाजत नहीं दी जाएगी क्योंकि वे उन लाखों प्यासे लोगों का हिस्सा इस्तेमाल कर लेंगे जो नहर के बिलकुल आखिरी सिरे पर रहते हैं।[83] मगर इसी अकेले प्राधिकार ने नहर के बिलकुल सिरे के पास ही दस बड़ी चीनी मिलों को लाइसेंस भी दे दिए हैं।

कुछ साल पहले ऐसे ही एक अकेले प्राधिकार ने आदेश दिया था कि उकाई बाँध के कमांड एरिया का महज 30 प्रतिशत हिस्सा गन्ने के लिए इस्तेमाल किया जाएगा।[84] लेकिन आज गन्ना उसके 75 प्रतिशत हिस्से में उगता है (और बाकी में जल-जमाव है)।[85]

अकेले प्राधिकार की एक अन्य शाखा के सौजन्य से महाराष्ट्र में राज्य की सिंचित भूमि के दसवें हिस्से पर कब्जा रखने वाली राजनैतिक रूप से ताकतवर चीनी लॉबी राज्य का आधा सिंचाई-जल इस्तेमाल करती है।

गन्ना उगाने वालों के अलावा, अकेले प्राधिकार ने हाल ही में एक योजना का ऐलान किया है[86] जिसमें पाँचसितारा होटलों, गोल्फ कोर्सों और जल पार्कों के विकास का इरादा है जो जादुई नहर के साथ आएँगे। इसकी क्या कैफियत हो सकती है ?

अकेले प्राधिकार का कहना है कि परियोजना को पूरा करने के लिए पैसा जुटाने का यही एकमात्र रास्ता है !

मुझे वाकई कच्छ और सौराष्ट्र के उन लाखों सज्जन लोगों की चिंता सताती है।

क्या कभी पानी उन तक पहुँचेगा ?

सर्वप्रथम, हमें पता है कि नदी में उससे काफी कम पानी है जितना होने का दावा अकेला प्राधिकार करता है।

दूसरी बात, नर्मदा सागर बाँध की अनुपस्थिति में सरदार सरोवर के सिंचाई लाभ 17 से 30 प्रतिशत तक और कम हो जाते हैं।

तीसरी बात, जादुई नहर की सिंचाई क्षमता (प्रणाली से मिलने वाले

पानी की वास्तविक मात्रा) मनचाहे ढंग से 60 प्रतिशत नियत कर दी गई है। प्रणाली की दरारों और सतह के वाष्पीकरण को ध्यान में रखते हुए भारत की उच्चतम सिंचाई क्षमता 35 प्रतिशत ठहरती है।[87] इसका मतलब है कि यह मुमकिन है कि कमांड एरिया के सिर्फ आधे हिस्से में सिंचाई हो। किस आधे हिस्से में ? पहले आधे हिस्से में।

चौथे, कच्छ और सौराष्ट्र तक पहुँचने के लिए जादुई नहर को दस चीनी मिलों, गोल्फ मैदानों, पाँचसितारा होटलों, जल-पार्कों और नगदी फसल उगा रहे, राजनैतिक रूप से ताकतवर पटेलों के समृद्ध जिलों बड़ौदा, खेड़ा, अहमदाबाद, गाँधीनगर और मेहसाना से गुजरना है। (अभी ही, अपने ही निर्देशों का पूरी तरह उल्लंघन करते हुए, अकेले प्राधिकार ने बड़ौदा शहर के लिए पानी की खासी मात्रा आवंटित की है।[88] अगर बड़ौदा पाता है तो क्या अहमदाबाद पीछे रह सकता है ? गुजरात के शहरी केंद्रों की राजनैतिक ताकत यह सुनिश्चित करेगी कि उन्हें उनका पूरा हिस्सा मिल जाए।)

पाँचवीं बात, अगर यह सौ फीसदी असंभव बात हो भी जाती है और पानी वहाँ पहुँच जाता है तो इसे पाइपों के जरिए इंतजार कर रहे 8000 गाँवों तक ले जाना और वितरित करना होगा।

यह जानने लायक बात है कि दुनिया के एक अरब लोग साफ पेयजल से वंचित हैं जिनमें 85.5 करोड़ ग्रामीण इलाकों में रहते हैं।[89] ऐसा इसलिए कि हजारों किलोमीटर की पाइपलाइनों, जलसेतुओं, पंपों और उपचार-संयंत्रों का एक सघन विद्युत संजाल स्थापित करने की लागत वश के बाहर है जो बिखरी हुई ग्रामीण आबादी को पेयजल सुलभ कराने के लिए जरूरी होगा। ग्रामीण लोगों को पेयजल सुलभ कराने के लिए दुनिया-भर में कोई बड़े बाँध नहीं बनाता। किसी में बनाने की कुव्वत ही नहीं है।

जब मोर्स समिति गुजरात पहुँची तो वह ऐसे सुदूर ग्रामीण जिलों तक पीने का पानी ले जाने की गुजरात सरकार की प्रतिबद्धता देखकर बहुत प्रभावित हुई।[90] उन्होंने विस्तृत पेयजल योजनाएँ देखनी चाहीं।

ऐसी कोई योजना नहीं थी। अभी भी नहीं है।

उन्होंने पूछा कि क्या इसकी कोई लागत निकाली गई है ? "कुछ

हजार करोड़", यह चलता-फिरता-सा जवाब था।[91]

एक अरब डॉलर एक विशेषज्ञ का नाप-तौल कर लगाया गया अनुमान है। यह परियोजना लागत में शामिल नहीं है। तो यह पैसा कहाँ से आने जा रहा है ?

छोड़िए, जाने दीजिए। यूँ ही पूछ रही हूँ।

यह दिलचस्प है कि फरक्का बैरेज ने, जो गंगा के पानी को कलकत्ता बंदरगाह की तरफ मोड़ती है, उन चार करोड़ लोगों के लिए पेयजल की उपलब्धता कम कर दी है जो निचले हिस्से में बंग्लादेश में रहते हैं।[92]

कभी-कभी कुछ है जो अपने नपे-तुलेपन में राष्ट्रवाद के नाम पर एक सिहरन-सी पैदा करता है। चार करोड़ लोगों से पानी छीन लेने के लिए बाँध बनाइए। चार करोड़ लोगों तक पानी पहुँचाने का बहाना करते हुए बाँध बनाइए।

ये ईश्वर कौन हैं जो हम पर हुकूमत करते हैं? क्या उनकी शक्तियों की कोई सीमा नहीं है ?
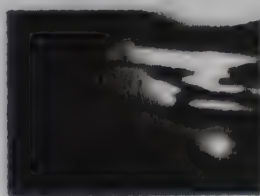
घाटी में जिस आखिरी आदमी से मैं मिली, वह भाईजी भाई था। वह उस उन्डावा गाँव से आया एक तड़वी आदिवासी है जहाँ से सरकार ने जादुई नहर और उसके 75,000 किलोमीटर के संजाल के लिए जमीन अधिग्रहीत करने की शुरुआत की थी। भाईजी भाई के 19 एकड़ में से 17 एकड़ जादुई नहर में चले गए। यह उसकी जमीन से फूटती है और तीखी ढलान वाले इसके किनारों से लेकर इसके पाट तक, किसी दैत्याकार साइकिल चालक के वेलोड्रोम-सी 700 फीट चौड़ी है।

नहर के संजाल से दो लाख से ज्यादा परिवार प्रभावित हो रहे हैं। लोगों के कुएँ और पेड़ छिन गए हैं, नहर के चलते उनके मकान उनके

खेतों से अलग हो गए हैं, अब वे दो या तीन किलोमीटर चलकर सबसे नजदीक के पुल तक पहुँचने और फिर उसे पार करके दूसरी तरफ उतनी ही दूरी तक लौटने को मजबूर हैं। 23,000 परिवार, कहें, करीब एक लाख लोग भाईजी भाई की तरह ही बहुत बुरी तरह प्रभावित होंगे। वे परियोजना-प्रभावितों की सूची में नहीं आते और पुनर्वास के हकदार नहीं हैं।

केवड़िया कॉलोनी के अपने पड़ोसियों की तरह भाईजी भाई रातों-रात कंगाल हो गए।

भाईजी भाई और उनके लोगों को सरकारी कैलेंडरों की तसवीरों के लिए मुस्कराने पर बाध्य किया जाता है। भाईजी भाई और उनके लोगों से आक्रोश की गरिमा भी छीन ली गई है। भाईजी भाई और उनके लोग इस मुल्क द्वारा खटमलों की तरह मसल दिए गए हैं जिसे वे अपना कहने को मजबूर हैं।

यह शाम का वक्त था जब मैं उनके घर पहुँची। मर रही रोशनी में फर्श पर बैठकर हमने कुछ ज्यादा ही मीठी चाय पी। जब वह बोल रहा था, मेरे भीतर एक स्मृति हिल-डुल रही थी, जैसे मैंने ही यह सब देखा हो। मैं सोच नहीं सकी कि क्यों ? मुझे पता है कि मैं पहले उससे कभी नहीं मिली थी। तब मैंने महसूस किया कि यह क्या है। मैंने उसे पहचाना नहीं था, मगर उसकी कहानी मुझे याद थी। मैंने उसे दस साल पहले घाटी में बनाई गई एक डॉक्यूमेंट्री फिल्म में देखा था। वह पहले से कमजोर हो चुका था, उसकी दाढ़ी उजली हो गई थी। मगर उसकी कहानी बूढ़ी नहीं हुई थी। यह कहानी अभी युवा और आवेग से भरपूर थी। जिस धीरज के साथ वह सुना रहा था, उसने मेरा कलेजा चीर दिया। मैं बता सकती थी कि यह कहानी उसने बार-बार, बार-बार दुहराई है, इस उम्मीद में, इस प्रार्थना के साथ कि एक दिन उन्डावा से गुजरता हुआ कोई अजनबी उसके लिए भाग्यशाली साबित हो या शायद भगवान ही।

भाईजी भाई, भाईजी भाई, तुम कब नाराज होगे ? तुम कब इंतजार करना छोड़ोगे ? तुम कब कहोगे, बस बहुत हो चुका ! और फिर अपने हथियार उठाओगे, वे जो भी हों ? कब तुम हमें अपनी समूची, गूँजती हुई, अजेय, खौफनाक ताकत दिखाओगे ? कब तुम भरोसा तोड़ोगे ? क्या तुम

भरोसा तोड़ोगे ? या फिर यह भरोसा तुम्हें ही तोड़ देगा ?

किसी जानवर की चाल धीमी करने के लिए आप उसके अंग तोड़ देते हैं। एक राष्ट्र को धीमा करने के लिए आप उसके लोगों को तोड़ देते हैं। आप उनकी इच्छाशक्ति छीन लेते हैं। आप प्रदर्शित करते हैं कि उनकी नियति पर आपका संपूर्ण अधिकार है। आप स्पष्ट कर देते हैं कि अंततः यह फैसला आपके हाथ में है कि कौन जिएगा, कौन मरेगा, कौन फलेगा-फूलेगा, कौन नहीं। अपनी ताकत के प्रदर्शन के लिए आप दिखाते हैं कि आप क्या-क्या कर सकते हैं और कितनी आसानी से कर सकते हैं। कितनी आसानी से आप एक बटन दबाकर धरती को मटियामेट कर सकते हैं। कैसे आप एक युद्ध शुरू कर सकते हैं या शांति की अपील कर सकते हैं। कैसे आप किसी से एक नदी छीन सकते हैं और किसी दूसरे को तोहफे में दे सकते हैं। कैसे आप एक रेगिस्तान में हरियाली ला सकते हैं, या एक जंगल काट सकते हैं और एक कहीं और रोप सकते हैं। प्राचीन चीजों–धरती, जंगल, हवा, पानी–में लोगों का विश्वास तोड़ने के लिए आप सनक का सहारा लेते हैं। एक बार जब यह हो जाता है तो फिर उनके पास क्या बच जाता है ? सिर्फ आप। वे आपकी ओर मुड़ेंगे क्योंकि उनके लिए बस अब आप ही आप हैं। भले ही वे आपसे नफरत करते हैं, वे आपको प्यार करेंगे। वे आपको अच्छी तरह जानते हैं, तब भी आप पर भरोसा करेंगे। भले ही आप उनके जिस्म से साँस तक निचोड़ लेते हों, वे आपको ही वोट देंगे।

वे वही पिएँगे जो आप उन्हें पिलाएँगे। वे वही साँस लेंगे जो आप उनके साँस लेने के लिए छोड़ेंगे। वे वहीं रहेंगे जहाँ आप उनका सामान फेंक देंगे। उन्हें रहना होगा। वे और कर ही क्या सकते हैं ? सुनवाई के लिए और ऊँची अदालत नहीं है। आप ही उनके माता और पिता हैं। आप ही जज और ज्यूरी हैं। आप ही दुनिया हैं। आप ही ईश्वर हैं।

सत्ता सिर्फ उससे मजबूत नहीं होती जो वह नष्ट करती है, बल्कि उससे भी जो वह बनाती है। सिर्फ उससे नहीं जो वह लेती है, बल्कि उससे भी जो वह देती है। और शक्तिहीनता सिर्फ उन लोगों की निस्सहायता से रेखांकित नहीं होती जिन्हें खोना पड़ा है, बल्कि उन लोगों के आभार

से भी जिन्हें लाभ मिला है (या वे सोचते हैं कि उन्हें लाभ मिला है)।

लोकतांत्रिक लगने वाले संविधानों की नेक लगने वाली धाराओं की पंक्तियों के बीच सत्ता का यह ठंडा, समकालीन ढाँचा अभिव्यक्त होता है। दिखावे के लिए स्वतंत्र लोगों द्वारा चुने गए नुमाइंदे इसका इस्तेमाल करते हैं। फिर भी मानव-सभ्यता के इतिहास में किसी भी अधिनायक के पास इस तरह के हथियार नहीं रहे हैं।

दिन पर दिन, नदी पर नदी, जंगल पर जंगल, पहाड़ पर पहाड़, प्रक्षेपास्त्र पर प्रक्षेपास्त्र, बम पर बम—बिना हमारे जाने ही, हमें तोड़ा जा रहा है।

किसी राष्ट्र के विकास के लिए बड़े बाँध वैसे ही हैं जैसे किसी फौजी जखीरे में परमाणु बम। दोनों व्यापक विनाश के उपकरण हैं। ये दोनों ऐसे हथियार हैं जिन्हें सरकार अपने ही लोगों को काबू में रखने के लिए इस्तेमाल करती है। दोनों बीसवीं सदी के प्रतीक हैं जो उस वक्त को चिन्हित करते हैं जिसमें मनुष्य की मेधा ने अपने अस्तित्व के लिए उसकी सहजबुद्धि को पीछे छोड़ दिया है। ये दोनों खुद को ही खा रही सभ्यता के अमंगल संकेत हैं। वे मनुष्यों और जिस ग्रह पर वे रहते हैं, उन दोनों के बीच रिश्तों के—सिर्फ रिश्तों के ही नहीं, बल्कि आपसी समझ के—टूटने का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे उस समझ को उलझा देते हैं जो अंडों से मुर्गियों को, दूध से गाय को, खेत से जंगल को, पानी से नदियों को, हवा से जिंदगी को और पृथ्वी से मनुष्य के अस्तित्व को जोड़ती है।

क्या हम इसे सुलझा सकते हैं ?

शायद इंच-दर-इंच। बम पर बम। बाँध पर बाँध। शायद नियत तरीकों से नियत युद्ध लड़ते हुए। हम नर्मदा घाटी से शुरुआत कर सकते हैं।

यह जुलाई बीसवीं सदी का आखिरी मानसून लेकर आएगी। नर्मदा घाटी की अनगढ़ सेना ने घोषणा की है कि जब सरदार सरोवर जलाशय का पानी उनके घर और जमीन लीलने के लिए उठेगा तब वे नहीं उठेंगे। आप बाँध से प्यार करते हों या नफरत, आप इसे चाहते हों, या न चाहते हों, यह उचित होगा कि आप वह कीमत समझें जो इसके लिए चुकानी

पड़ रही है, कि जब बकाया चुकाया जा रहा हो और खाता दुरुस्त किया जा रहा हो तो आपमें इसे देखने की हिम्मत हो।

हमारे बकाए। हमारे खाते। उनके नहीं।

आप वहाँ हों।

संदर्भ व टिप्पणियाँ

1. सी.वी.जे. शर्मा (सं.), 1989, *माडर्न टैम्पिल्स ऑफ़ इंडिया : सलेक्टेड स्पीचेज़ ऑफ़ जवाहरलाल नेहरू एट इर्रिगेशन एंड पावर प्रोजेक्ट्स,* पृष्ठ 40-49, केंद्रीय सिंचाई एवं बिजली बोर्ड।
2. पैट्रिक मैकली, 1998, *साइलेंस्ड रिवर्स : द इकॉलोजी एंड पॉलिटिक्स ऑफ़ लार्ज डैम्स,* पृष्ठ 80, ओरिएंट लौंगमैन, हैदराबाद।
3. बरगी बाँध-विस्थापितों के फ़िल्मांशों से, 1995, अनुराग सिंह व झरना झावेरी, जन माध्यम, नई दिल्ली।
4. सी.वी.जे. शर्मा, (सं.), 1989, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 52-56। केंद्रीय सिंचाई एवं बिजली बोर्ड की 29वीं वार्षिक बैठक (17 नवंबर, 1958) को संबोधित करते हुए नेहरू ने कहा था, ''लेकिन, पिछले कुछ समय से मुझे लगने लगा है कि हम उस बीमारी के शिकार हैं जिसे हम चाहें तो 'महाकायता की बीमारी' कह सकते हैं। हम दिखाना चाहते हैं कि हम बड़े बाँध बना सकते हैं और बड़े काम कर सकते हैं। भारत में यह एक खतरनाक नज़रिया पनप रहा है...। महाकायता का विचार यानी सिर्फ़ यह दिखाने के लिए कि हम बड़े काम कर सकते हैं बड़े उद्यमों का निर्माण और दूसरे बड़े काम करना, एक स्वस्थ नजरिया क़तई नहीं है।'' और, ''...देश का चेहरा आधा दर्जन जगहों पर जारी बड़ी परियोजनाओं के मुकाबले छोटी सिंचाई परियोजनाओं, छोटे उद्योगों और छोटे विद्युत-संयंत्रों से कहीं ज़्यादा बदलेगा।''
5. सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट (सीएसई), 1997, *डाईंग विजडम : राइज़, फाल एंड पोटेंशियल ऑफ़ इंडिया'ज़ ट्रेडीशनल वाटर हारवेस्टिंग सिस्टम्स,* पृष्ठ 399, विज्ञान एवं पर्यावरण केंद्र, नई दिल्ली; माधव गाडगिल, रामचंद्र गुहा, 1995 *इकॉलोजी एंड इक्विटी,* पृष्ठ 39, पेंग्विन इंडिया, नई दिल्ली।
6. इंडियन वाटर रिसोर्सेज़ सोसाइटी, 1998, *फाइव डीकेड्स ऑफ वाटर रीसोर्सेज़ डेवलेपमेंट इन इंडिया,* पृष्ठ 7

7. वर्ल्ड रिसोर्स इंस्टीट्यूट, 1998, *वर्ल्ड रिसोर्सेज़ 1998-99,* पृष्ठ 251, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफोर्ड, यू.के.।
8. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 26-29; अगस्त, 1998 में अमेरिकी इंटीरियर सेक्रेटरी ब्रूस वैबिट के भाषणों के लिए द इकॉलोजिस्ट एशिया भी देखें, ज़िल्द 6, नं. 5 (सितंबर-अक्तूबर 1998), पृष्ठ 50-51।
9. मैकली, 1998 (पूर्वोद्धृत) के अलावा देखें—सेंटर फॉर साइंस एंड एनवायरनमेंट की *स्टेट ऑफ इंडिया'ज़ एनवायरनमेंट,* 1999, 1985 और 1982; निकोलस हिल्डीआर्ड व एडवर्ड गोल्डस्मिथ, 1984 द *सोशल एंड एनवायरनमेंटल इंपेक्ट्स ऑफ़ लार्ज डैम्स,* वेबरिज इकॉलोजिकल सेंटर, कार्नवाल, यू. के.; सत्यजीत सिंह 1997 *टेमिंग द वाटर्स : द पोलिटिकल इकॉनोमी ऑफ़ लार्ज डैम्स,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली; *इंडिया : इर्रिगेशन सेक्टर रिव्यू ऑफ़ द वर्ल्ड बैंक (1991); लार्ज डैम्स लर्निंग फ्राम द पास्ट, लुकिंग टु द फ्यूचर,* 1997 आईयूसीएन, आदि।
10. मिहिर शाह व अन्य, 1998 *इंडिया'ज़ ड्राइलैंड्स : ट्राइबल सोसायटीज़ एंड डेवलेपमेंट थ्रू एनवायरनमेंटल रीजेनेरेशन,* पृष्ठ 51-103, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
11. एन. दनइया यूशर, 1997, *डैम्स एज एड : ए पोलिटिकल ऐनाटॉमी ऑफ नॉर्डिक डेवलेपमेंट थिंकिंग,* रौटलेज, लंदन व न्यूयॉर्क।
12. वर्तमान मूल्य पर, रुपए 2,20,000 करोड़ 1996-97 स्थिर मूल्यों पर।
13. भारत सरकार, 1999, *नाइंथ फाइव ईयर प्लान 1997-2002,* जिल्द 2, पृष्ठ 478, योजना आयोग, नई दिल्ली।
14. डी. के. मिश्रा और आर. रंगाचारी, 1999, *द एम्बैंकमेंट ट्रैप एंड सम डिस्टर्बिंग क्वेश्चंस,* पृष्ठ 46-48 व 62-63 (क्रमशः), सेमिनार 478 (जून 1999); सीएसई, 1991, *फ्लड्स फ्लडप्लेन्स एंड एनवायरनमेंटल मिथ्स।*
15. मिहिर शाह व अन्य, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 51-103
16. सत्यजीत सिंह, 1997, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 188-190; इसके अलावा वास्तविक विस्थापन के लिए भारत सरकार के आँकड़े।
17. ग्रामीण क्षेत्र एवं रोजगार मंत्रालय द्वारा 21 जनवरी, 1999 को दिल्ली में आयोजित एक बैठक में। यह बैठक राष्ट्रीय पुनर्स्थापन एवं पुनर्वास नीति की रूपरेखा और भूमि अधिग्रहण अधिनियम में संशोधन पर बुलाई गई थी।
18. ब्रेडफोर्ड मोर्स एवं थॉमस बर्गर, 1992, *सरदार सरोवर : द रिपोर्ट ऑफ़*

द इंडिपेंडेंट रिव्यू, पृष्ठ 62। मूल प्रकाशन रिसोर्स फ्यूचर्स इंटरनेशनल (आरएफआई) इंक, ओटावा द्वारा।
19. भारत सरकार, 28वीं व 29वीं *रिपोर्ट ऑफ़ द कमिश्नर फॉर शेड्यूल्ड कास्ट्स एंड शेड्यूल्ड ट्राइब्स*, नई दिल्ली, 1988-89
20. इंडियन एक्सप्रेस, नई दिल्ली, 10 अप्रैल, 1999 (मुखपृष्ठ)।
21. भारत सरकार, 1999, *नाइंथ फाइव ईयर प्लान 1997-2002*, जिल्द 2, पृष्ठ 437
22. सिद्धार्थ दुबे, 1998, वड्र्स लाइक फ्रीडम, हार्पर कॉलिंस (इंडिया), नई दिल्ली; सीएमआईई (सेंटर फॉर मॉनिटरिंग द इंडियन इकोनॉमी), 1996; 4 जून, 1999 के बिजनेस लाइन में उद्धृत *वर्ल्ड बैंक पावर्टी अपडेट* भी देखें।
23. राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, *रिपोर्ट ऑफ़ द विज़िट ऑफ़ द ऑफीशियल टीम ऑफ़ द एनएचआरसी टु द स्केरेसिटी अफेक्टेड एरियाज़ ऑफ़ उड़ीसा*, दिसंबर 1996
24. भारत सरकार, *अवार्ड ऑफ़ द नर्मदा वाटर डिस्प्यूट्स ट्रिब्यूनल*, 1978-79
25. भारत सरकार, *रिपोर्ट ऑफ़ द एफएमजी-2 ऑन सरदार सरोवर प्रोजेक्ट, 1995;* भारत सरकार व मध्य प्रदेश सरकार द्वारा उच्चतम न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किए गए विभिन्न शपथ-पत्र, 1994-98
26. सी. डब्ल्यू. सी. *मंथली आब्ज़र्व्ड फ्लोज़ ऑफ द नर्मदा एट गरुदेश्वर*, 1992, हाइड्रोलॉजी स्टडीज़ ऑर्गेनाइजेशन, केंद्रीय जल आयोग, नई दिल्ली।
27. *रिटन सबमिशन ऑन बिहाफ ऑफ़ यूनियन ऑफ़ इंडिया*, फरवरी 1999, पृष्ठ 7, अनुच्छेद 1.7
28. टाइगरलिंक, ज़िल्द 5, नं. 2, जून 1999, पृष्ठ 28
29. *वर्ल्ड बैंक एनुअल रिपोर्ट्स, 1993-98*
30. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 274
31. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 21, विश्व बैंक ने चीन में बाँध-निर्माण के लिए 1984 में धन मुहैया कराना शुरू किया। तब से अब तक वह 13 बड़े बाँधों के लिए कोई 3.4 बिलियन डॉलर (मुद्रास्फीति से असमायोजनीय) का ऋण दे चुका है। इन बाँधों से 3,60,000 लोग विस्थापित होंगे। केंद्रीय महत्त्व येलो रिवर पर बन रहे ज़ियाओलैंगडी बाँध का है जो अकेले ही 1,81,000 लोगों को विस्थापित करेगा।
32. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 278
33. जे. विडाल और एन. कमिंग-ब्रूस, *द कर्स ऑफ़ परगाऊ*, द इकॉनोमिस्ट,

5 मार्च, 1994; *डैम प्राइस जम्पड 81 मिलियन पाउंड्स डेज आफ़्टर डील,* द गार्जियन, लंदन 19 जनवरी 1994; *व्हाइटहॉल मस्ट नॉट एस्केप स्कॉट फ्री,* द गार्जियन, लंदन, 12 फरवरी, 1994; मैकली द्वारा उद्धृत, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 291

34. उदाहरणार्थ देखें–सरदार सरोवर नर्मदा निगम लि., 1989, *प्लानिंग फॉर प्रॉस्पेरिटी;* बाबूभाई जे. पटेल, 1992, *प्रोग्रेसिंग अमिड्स्ट चैलेंजेज;* सी. सी. पटेल, 1991, *सरदार सरोवर प्रोजेक्ट, व्हाट इट इज़ एंड व्हाट इट इज़ नॉट;* पी. ए. राज, 1989, 1990 और 1991 संस्करण, *फैक्ट्स : सरदार सरोवर प्रोजेक्ट्स।*

36. वही, इसके अलावा राहुल राम, 1993, *मडी वाटर्स : ए क्रिटिकल एसेसमेंट ऑफ़ द बेनेफ़िट्स ऑफ़ द सरदार सरोवर प्रोजेक्ट,* कल्पवृक्ष, नई दिल्ली।

37. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 319। आधिकारिक आँकड़ों (नर्मदा कंट्रोल ऑथोरिटी, 1992, *बेनेफिट्स टु सौराष्ट्र एंड कच्छ एरियाज़ इन गुजरात,* एनसीए, इंदौर) के अनुसार कच्छ के 948 व सौराष्ट्र के 4,877 गाँवों को सरदार सरोवर परियोजना से पेयजल उपलब्ध होगा। लेकिन 1981 की जनगणना के अनुसार, कच्छ में मात्र 887 और पूरे सौराष्ट्र में 4,727 गाँव बसते हैं। जाहिर है कि योजनाकारों ने गाँवों के नाम मानचित्र से उतार लिए हैं, उन 211 गाँवों समेत जो उजाड़ पड़े हैं। राहुल राम, 1993, पूर्वोद्धृत में उल्लिखित।

38. उदाहरणार्थ नर्मदा कंट्रोल अथॉरिटी के पुनर्स्थापन व पुनर्वास उपसमूहों की विभिन्न बैठकों के विवरण, 1998-99; इसके अलावा मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 51

39. राहुल राम, 1993, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 34

40. उदाहरण के लिए देखें एनबीए द्वारा उच्चतम न्यायालय में दाखिल याचिका, 1994

41. सरदार सरोवर नर्मदा निगम लिमिटेड, 1989, *प्लानिंग फॉर प्रॉसपेरिटी,* गुजरात सरकार।

42. एस. धर्माधिकारी, 1995, *हाइड्रोपावर एट सरदार सरोवर : इज़ इट नेसेसरी जस्टीफाइड एंड अफॉर्डेबुल ?* पृष्ठ 141, सं.–डब्ल्यू. एफ. फिशर। *टूवार्ड्स सस्टेनेबुल डेवलेपमेंट ?* स्ट्रग्लिंग ओवर इंडिया'ज नर्मदा रिवर, एम.एफ. शार्प, आरमोंक, न्यूयार्क।

43. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 87

44. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 185

45. विश्व बैंक, 1994, *रीसैटलमेंट एंड डेवलेपमेंट : द बैंकवाइड रिव्यू ऑफ़ प्रोजेक्ट्स इनवोल्विंग रीसैटलमेंट,* 1986-1993
46. वर्ल्ड बैंक, 1994; (ii) *रीसैटलमेंट एंड रीहेबिलिटेशन ऑफ़ इंडिया : ए स्टेटस अपडेट ऑफ़ प्रोजेक्ट्स इन्वोल्विंग रीसैटलमेंट।*
47. वर्ल्ड बैंक, रीसैटलमेंट एंड डेवलेपमेंट 1994, पूर्वोद्धृत।
48. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, राष्ट्रपति को पत्र, पृष्ठ XII, XXIV और XXV
49. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ XXV
50. सामाजिक व पर्यावरणीय प्रभावों के कच्चे आकलन समेत न्यूनतम शर्तें। विस्तार के लिए देखें–*यूडाल द इंटरनेशनल नर्मदा कैंपेन;* मैकली, 1992, *क्रैक्स इन द डैम : द वर्ल्ड बैंक इन इंडिया,* मल्टीनेशनल मॉनीटर, दिसंबर, 1992
51. देखें–विश्व बैंक को भारत सरकार का पत्र, मार्च 29, 1993; विश्व बैंक की प्रेस विज्ञप्ति (दिनांक 30, 1993)। इसकी एक प्रति इंटरनेशनल रिवर्स नेटवर्क के कैंपेन इंफॉर्मेशन पैकेज *नर्मदा वैली डेवलपमेंट प्रोजेक्ट,* जिल्द-1, अगस्त 1998 में प्राप्य है।
52. तिथि थी 14 नवंबर, 1992; स्थान ताजमहल होटल, बंबई के बाहर जहाँ विश्व बैंक के अध्यक्ष लेविस प्रिस्टन ठहरे हुए थे। देखें–लायर्स कमेटी फॉर ह्यूमन राइट्स, अप्रैल 1993
53. 20 मार्च, 1994 की रात को बड़ौदा स्थित एनबीए कार्यालय पर कुछ गुंडों ने सिर्फ इस (निराधार) अफ़वाह के चलते हमला बोला कि पाँच सदस्यीय समिति का एक सदस्य अंदर एनबीए के सदस्यों के साथ मौजूद है। इस हमले में कुछ एनबीए कार्यकर्ताओं के साथ दुर्व्यवहार किया गया और दस्तावेजों का एक बड़ा संग्रह जलाकर खाक कर दिया गया।
54. जल संसाधन मंत्रालय, भारत सरकार, 1994, *रिपोर्ट ऑफ़ द फाइव मेंबर ग्रुप ऑन सरदार सरोवर प्रोजेक्ट।*
55. 1994 की याचिका 319 का तर्क है कि सरदार सरोवर परियोजना ने प्रभावित लोगों के मानवाधिकारों का हनन किया है और यह कि परियोजना सामाजिक, पर्यावरणीय, तकनीकी (भूकंपीय व जल वैज्ञानिक घटकों समेत), आर्थिक या वित्तीय आधारों पर व्यवहार्य नहीं है। याचिका की माँग थी कि परियोजना की एक विस्तृत विवेचना हो और परियोजना पर शेष कार्य को रोक दिया जाए।
56. *फ्रंटलाइन,* 27 जनवरी 1995; *संडे,* 21 जनवरी 1995
57. जनवरी, 1995 में उच्चतम् न्यायालय ने केंद्र सरकार के सलाहकार का यह वक्तव्य स्वीकार किया कि सरदार सरोवर बाँध पर आगे कोई भी

काम अदालत को बिना पूर्व-सूचना दिए नहीं किया जाएगा। 4 मई, 1995 को अदालत ने केंद्र के इस आग्रह पर बाँध पर 'टीले' बनाने की इजाजत दे दी कि उनका निर्माण सुरक्षा के लिए अनिवार्य है। लेकिन अदालत ने जनवरी, 1995 के अपने आदेश को पुनः दोहराया कि अदालत की मंजूरी के बिना कोई निर्माण कार्य नहीं होगा।

58. *रिपोर्ट ऑफ़ द नर्मदा वाटर डिस्प्यूट्स ट्रिब्यूनल विद इट्स डिसीज़न,* ज़िल्द II, 1979, पृष्ठ 102; मोर्स, 1999, पूर्वोद्धृत पृष्ठ 250 में उद्धृत।
59. मोर्स 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 323-329
60. पी.ए. राज, 1989, 1990, 1991, *फैक्ट्स : सरदार सरोवर परियोजना,* सरदार सरोवर नर्मदा निगम लिमिटेड, गुजरात।
61. मेधा पाटकर, 1995, *द स्ट्रगल फॉर पार्टीशिपेशन एंड जस्टिस : ए हिस्टोरिकल नैरेटिव* (फिशर विलियम द्वारा संपादित संग्रह में); 'टूवार्ड सस्टेनेबुल डेवलेपमेंट स्ट्रग्लिंग ओवर इंडिया'ज नर्मदा रिवर', एम. शार्प, इंक, पृष्ठ 159-178; एस. परसुरामन, 1997, द *एंटीडैम मूवमेंट एंड रीहेबिलिटेशन पोलिसी;* ज्याँ ड्रेजे, *द डैम एंड द नेशन,* ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 26-65; नर्मदा कंट्रोल ऑथोरिटी के पुनर्स्थापन व पुनर्वास उपसमूहों की विभिन्न बैठकों के विवरण।
62. मार्च, 1999 में मेरे घाटी-दौरे के दौरान मोखडी में मुझे कुछ ग्रामीणों ने यह बताया। ये लोग अपनी पुनर्वास कॉलोनियों से लौटे थे।
63. *कैसे जीबो रे,* अनुराग सिंह व झरना झावेरी द्वारा निर्मित वृत्तचित्र; इसके अलावा एनबीए संग्रहालय में असंपादित फिल्मांश भी दृष्टव्य हैं।
64. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 159-160 में उद्धृत, पार्वता पुनर्वास कॉलोनी के एक निवासी द्वारा इंडिपेंडेंट रिव्यू को लिखा पत्र।
65. नर्मदा मानवाधिकार यात्रा, जो नर्मदा घाटी से बंबई होते हुए दिल्ली (7 अप्रैल, 1999) पहुँची थी।
66. यह मुझे मार्च, 1999 में केवड़िया कॉलोनी में मोहनभाई तड़वी ने बताया।
67. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 277-294
68. एनबीए साक्षात्कार, मार्च 1999
69. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 277-294
70. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 46-49
71. संबंधित बहस के लिए देखें, वर्ल्ड बैंक, 1991, इंडिया इर्रिगेशन सेक्टर रिव्यू; ए. वैद्यनाथन, 1994, फूड, *एग्रीकल्चर एंड वाटर,* एम.आई.डी.एस. मद्रास; मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 182-207

72. द वर्ल्ड बैंक, 1991, इंडिया इर्रिगेशन सेक्टर रिव्यू, जिल्द 2, पृष्ठ 7
73. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत में उल्लिखित, पृष्ठ 187
74. शाहीन रफ़ी ख़ान, 1998, *लर्निंग टु लिव विद नेचर : द लेसंस ऑफ़ ट्रेडीशनल इर्रिगेशन* इन द इकॉलोजिस्ट, जिल्द 6, नं. 5, सितं./अक्तू., 1998
75. मिहिर शाह व अन्य, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 51; इसके अलावा गोल्डस्मिथ, 1998, पूर्वोद्धृत।
76. आपरेशंस रिसर्च ग्रुप, 1981, *क्रिटिकल जोन्स इन नर्मदा कमांड—प्राब्लम्स एंड प्रास्पेक्ट्स,* ओआरजी, बड़ौदा; ओआरजी, 1982, *रीजनलाइजेशन ऑफ़ नर्मदा कमांड,* ओआरजी, गाँधी नगर; वर्ल्ड बैंक, 1985, *स्टॉफ एप्राइज़ल रिपोर्ट, इंडिया, नर्मदा रिवर डेवलेपमेंट—गुजरात, वाटर डिलीवरी एंड ड्रेनेज़ प्रोजेक्ट,* रिपोर्ट नं. 5108-आई एन; कोर कंसल्टेंट्स, 1982, *मेन रिपोर्ट : नर्मदा माही दोआब ड्रेनेज स्टडी,* गुजरात सरकार के नर्मदा प्लानिंग ग्रुप द्वारा अधिकृत।
77. रॉबर्ट वेड, 1997, ग्रीनिंग द बैंक : द स्ट्रगल ओवर द एनवायरनमेंट, 1970-1995, पृष्ठ 661-662, देवेश कपूर आदि (द्वारा संपादित), द *वर्ल्ड बैंक : इट्स हॉफ सेंचुरी,* बुकिंग्स इंस्टीट्यूशन प्रेस, वाशिंगटन डीसी में।
78. शाहीन रफ़ी ख़ान, 1998, पूर्वोद्धृत।
79. सीईएस, 1992 *प्री-फीज़िबिलिटी लेवल ड्रेनेज स्टडी फॉर सरदार सरोवर परियोजना कमांड बियोंड रिवर माही,* सीईएस वाटर रिसोर्सेज़ डेवलेपमेंट एंड मैनेजमेंट कंसल्टैंसी प्रा. लि., नई दिल्ली, गुजरात सरकार के हितार्थ।
80. राहुल राम, 1993, पूर्वोद्धृत।
81. कोर कंसल्टैंट्स, 1982, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 66
82. वही।
83. उदाहरणार्थ देखें भारत सरकार, 1995, रिपोर्ट ऑफ़ द एफएमजी; अथवा राहुल राम, 1993, पूर्वोद्धृत।
84. राहुल राम, 1993, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 28
85. राहुल राम, 1993, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 26
86. इसे 'इकॉनोमिक रीजेनेरेशन प्रोग्राम' कहा गया। इसका उद्देश्य निर्धन हो चुके सरदार सरोवर नर्मदा निगम लिमिटेड के लिए धनराशि जुटाना था। इसके तहत नर्मदा की प्रमुख नहर के आसपास की भूमि को अधिग्रहीत करके पर्यटन सुविधाओं, होटलों, जल-उद्यानों, मनोरंजन-स्थलों व उद्यान-रेस्तराओं आदि के लिए बेचना तय हुआ था। द *टाइम्स ऑफ़*

इंडिया (अहमदाबाद), 17 मई, 1998

87. वर्ल्ड बैंक, 1991, इंडिया इर्रिगेशन सेक्टर रिव्यू।
88. उच्चतम् न्यायालय में याचिकाकर्ताओं (एनबीए) की ओर से दाखिल लिखित वाद, जनवरी, 1999, पृष्ठ 63; द टाइम्स ऑफ़ इंडिया (अहमदाबाद), 23 मई, 1999
89. इस्माइल सेरेगेल्डीन, 1994, *वाटर सप्लाई, सेनिटेशन एंड एनवायरनमेंट सब्सटेंशियलिटी,* पृष्ठ 4, द वर्ल्ड बैंक, वाशिंगटन डीसी।
90. मोर्स, 1995, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ XXIII
91. मोर्स, 1992, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 317-319
92. मैकली, 1998, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 167

अनुक्रमणिका

अरुंधती रॉय 'द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स'
और 'द एंड ऑफ इमेजिनेशन' की लेखिका हैं।

यह किताब बौद्धिक दुनिया के अंतरमन को छू जाएगी...
मैंने ऐसा लेखक कभी नहीं देखा जो गरीबों, भूमिहीनों
और उनकी हानि से जुड़े मुद्दों को इतनी शिद्दत से उठाता हो।
बाबा आमटे

दशक का सबसे अच्छा लेख... इस लेख की खूबसूरत बात यह है कि
इसके प्रवाह में विश्वास और दृढ़ता है लेकिन साथ ही शोधकर्मी की
शालीनता भी है--शक्तिशाली नदी नर्मदा की ही भाँति।
मेधा पाटकर, नर्मदा बचाओ आंदोलन

यह लेख सिर्फ बाँधों के विषय में ही मेरा पढ़ा सबसे अच्छा लेख नहीं है बल्कि
'विकास' की राजनीति पर मेरा पढ़ा सबसे अच्छा लेख है—जबकि
मैंने बाँधों और विकास पर अच्छी-खासी संख्या में किताबें पढ़ी हैं।
पैट्रिक मैकली, लेखक : साइलेंस्ड रिवर्स

बहुत प्रेरणादायक है यह देखना कि कला आम लोगों की भलाई के लिए
व्यावहारिकता का रूप ले रही है और व्यावहारिकता कला का हिस्सा बन रही है।
पीटर वासहार्ड, निदेशक : बैर्न डिक्लेरेशन